# रजत रश्मि

[ जैन संस्कृति के चुने हुए विषयों का विश्लेषण ]

जैन प्रकाशन, मन्दसौर (म०प्र०)

## आभार

परम पूज्य पन्यास श्री भानुविजयजी महाराज के प्रति जिनने अपने जीवन में त्याग, तप, ज्ञान एवं संघोत्थान की उज्जवल उपलब्धियों के कीर्तिमान स्थापित किये हैं, मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं उनके ग्रंथों से प्राप्त उद्धरणों ने ही इस पुस्तक को अधिक क्रियाशील रूप दिया है। आशा है उनकी प्रेरणा मेरे लिये सदैव जीवन्त रहेगी।

संशोधक
जैनरत्न श्री राजमलजी लोढा,
शास्त्री, साहित्य भूषण,
संपादक 'ध्वज'

★

प्रकाशक
जैन प्रकाशन
मंदसौर ( म० प्र० )

★

मुद्रक
भारत प्रिंटिंग प्रेस
मंदसौर ( म० प्र० )

★

आवर्तन
प्रथम १९६७

★

मूल्य
एक रुपया

# मंगल मंतव्य

जैन संस्कृति आत्मवादी संस्कृति है। आध्यात्मिक मूल्यों के धरातल पर उसका विकास हुआ है। नीति, न्याय एवं प्रमाणिकता इसके प्राण हैं। स्व और पर के कल्याण की तीव्र भावना इसकी विशेषता है। धर्म के उच्चादर्शों ने इसका शृंगार किया है। जीवन के परमोच्च लक्ष्यों की ओर यह प्रगतिशील हुई है। शुद्धता एवं पवित्रता इसकी सहचरियां रही हैं। युगों व सदियों के प्रवाह में भी इसका मस्तक सदैव उन्नत रहा है। इतिहास के संशोधन और सत्ताओं के परिवर्तन भी इसे झुका नहीं पाये हैं। यह विश्व के विचार मंच पर सर्वोत्कृष्ट रूप ग्रहण कर सदैव अपनी विजय वैजयन्ति फहराती रही है।

इसका गौरवशाली रूप इसकी अपनी वैशिष्ट्यताओं के कारण ही निखरा है। अहिंसा जिस रूप में विवेचित हुआ, सत्य का जिस गहराई तक अन्वेषण हुआ तथा मानव कल्याण की प्रबल भावना जिस उन्मुक्त रूप में व्यापक बना— उसीने जैन संस्कृति को अधिकाधिक परिमार्जित किया है।

प्रस्तुत प्रकाशन जैन संस्कृति के कुछ विषयों का विचारिक विश्लेषण लेकर प्रस्तुत हो रहा है। आधुनिक पद्धति से सोचने व समझने वालों के सम्मुख श्री सुरेन्द्र लोढ़ा की नूतन शैली जैन दर्शन के विविध विषयों को स्पष्ट करने में सफल होगी, यही शुभकामना।

*सियाणा (राजस्थान)* — *मुनि जयप्रभविजय "श्रमण"*

# पवित्र प्रेरणा...

जैन धर्म आचार - विचार एवं व्यवहार की शुद्धता को प्रधानता देता है। जीवन क्षणिक है। यह जन्म और मृत्यु के दो अटल सत्यों की सींखचों में जकड़ा हुआ है। जो कुछ दृश्य है वह नाशवन्त है, मिटने वाला है। जैन धर्म इस जीवन को जयस्वी रूप में प्राजलित करने हेतु प्रेरित करता है। वह इसे अकर्मण्य, आचार हीन या अनैतिक बनकर गवाने की आज्ञा नहीं देता। उसने जीवन को शुद्धता की कसौटी पर कसा है। उच्च आचार ही जीवन की सफलता का मापदण्ड है।

जीवन की सार्थकता मोक्ष प्राप्ति है। अद्वितीय एवं अनमोल मानव जीवन यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना के द्वारा अग्रशील हो तो मोक्ष पथ का साक्षात्कार भी असम्भव नहीं है। जैन धर्म की शीतल ज्योत्सना ने परमोच्च रहस्य को ज्योतिर्मय किया है। अपने आप में इसी ज्योत्सना का सगोपन कर "रजत रश्मि" प्रगट हो रही है आशा है विषयों का चयन एवं प्रतिपादन पाठकों के सम्मुख एक स्वच्छ चित्र बनाने का प्रयत्न कर लेगा। इसी मंगल आकांक्षा के साथ

जबलपुर ( म० प्र० ) — मुनि प्रभाकरसागर





रजत



ते
।
सुरा
है।
स्कृति
है।
का
है।
वण्ड
सुतू
चीना

— १ —

# विश्व शक्तियों का विश्लेषण

विज्ञान का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर है। विज्ञान की उपलब्धियों के सम्मुख समग्र संसार नतमस्तक है। विज्ञान के कारण मानव संस्कृति का रंगरूप तक बदल गया है। सभी दिशाओं में विज्ञान की सफलताओं के स्वर गूंज रहे हैं। विज्ञान प्रदत्त शक्तियों में प्रचण्ड क्षमताओं के दर्शन हुए हैं। विद्युत् में कितनी प्रकृष्ट ताकत है? एक बटन को दबाते ही भूतल का कोना

काँना जगमगा उठता है। औद्योगीकरण का प्राण विद्युत शक्ति बन चुकी है। मानव को अधिकाधिक भौतिक समृद्धि और सुख के साधन प्रदान करने में यह एक महान् शक्ति पुञ्ज के रूप में सम्मुख आई है। चुम्बकत्व की शक्ति से वे कार्य सम्पन्न हो रहे हैं जिनकी कल्पना १८ वीं सदी तक मानव मस्तिष्क में प्रविष्ट भी नहीं हो पाई थी। आज वैज्ञानिक परमाणु(Atom)को पकड़कर गतिशील है। एक एटमबम्ब अथवा उद्जन बम्ब किसी भी विशालभाग को विनाशकारी दावाग्नि से घेर सकता है। यथा, प्रक्षेपशाला या मिसाइलों के रूप में एटम, इलेक्ट्रॉन आदि की क्षमताओं का भयंकर प्रदर्शन हो रहा है। ये सभी विज्ञान की शक्तियां हैं जो जड़ पदार्थों के अन्तस्थल से प्रस्फुटित होती हैं।

लेकिन

इनसे भी कोई बड़ी शक्ति है जो भगवान महावीर में निहित थी। जिसने निरस्त्र और निःशस्त्र भारत में अहिंसा की कान्ति का विस्तार किया था। यदि बन्दूक की गोली ही एक मात्र शक्ति का द्योतक होता तो भगवान महावीर शक्ति सम्पन्न राजपद से उपर उठकर एक त्यागी व साधक का रूप क्यों लेते? वह कौनसी शक्ति थी जो बड़े बड़े सम्राट् साहुकारों को त्यागी व सन्यासी महावीर के चरणों में झुका लेती थी?

ऐसी ही कोई शक्ति, महात्मा गाधी में थी जिनके कृशकाय शरीर के पीछे सन् १९४२ में हजारों-लाखों भारतवासी स्वतन्त्रता [illegible] में भाग लेने के लिये एक जुट हो चल पड़े थे। क्या

महात्मा गांधी के पास सैनिकों की लम्बी कतारें थीं ? क्या बम बारूद के भण्डार थे ? क्या साधन और सुविधाएं थीं ? नहीं-किन्तु फिर भी क्या कारण था कि गांधी जी ने अंग्रेजों की लौह शक्ति का सामना "करो और मरो" के क्रियाशील निनाद से करने का प्रयास किया ? अंग्रेजों की लाठी और गोली का प्रत्युत्तर सत्याग्रह तथा अहिंसक संघर्ष से दिया।

स्वातंत्र्य सपूत भगतसिंह ने एसेम्बली में बम फेंका था भगत सिंह चाहते तो दर्शक गैलरी से भाग खड़े होते किंतु उनने भागने से अधिक उचित पुलिस के सम्मुख प्रत्यार्पण समझा। क्या भगतसिंह अनभिज्ञ थे कि पुलिस की गिरफ्त के बाद उनके लिये प्राण दण्ड का पुरस्कार तय्यार है ? पुलिस की हथकड़ियों से जकड़े जाने के बाद उनका स्थान फांसी का फन्दा ही होगा ? वे भली भांति इस तथ्य से परिचित थे। फिर क्या उनने अपने आपको मौत के मुंह में ढकेला ? इतिहास के घटनाक्रमों का आज तात्त्विक दृष्टि से निरूपित करने की आवश्यकता है।

वास्तविक तथ्य तो यह है कि बमों व बारूद की शक्ति से अधिक प्रभावकारी, उच्च एवं वरिष्ठ कई शक्तियां हैं-जिन्हें प्रेम, सहानुभूति, धैर्य, बोध, क्षमा, सहनशीलता, दया, वात्सल्य उत्तेजना आदि रूपों में जाना और पहिचाना जाता है। सामने एक क्रूर व्यक्ति भरा हुआ पिस्तौल लेकर आरहा है-उसकी अंगुली पिस्तौल के अश्व पर स्थिर है और वह गोली दागने हेतु तत्पर है किंतु आपके मृदु वचनों और उत्तम प्रभाव के कारण उसकी अंगुली बिना गोली दागे ही अश्व पर से नीचे खिसक सकती है। यदि

कौना जगमगा उठता है। औद्योगीकरण का प्राण विद्युत शक्ति बन चुकी है। मानव को अधिकाधिक भौतिक समृद्धि और सुख व साधन प्रदान करने में यह एक महान् शक्ति पुञ्ज के रूप में सम्मुख आई है। चुम्बकत्व की शक्ति से वे कार्य सम्पन्न हो रहे हैं जिनकी कल्पना १८ वीं सदी तक मानव मस्तिष्क में प्रविष्ट भी नहीं होपाई थी। आज वैज्ञानिक परमाणु(Atom)को पकड़कर गतिशील है। एक एटमबम्ब अथवा उद्जन बम्ब विश्व के अधिकांशभाग को विनाशकारी दावाग्नि से घेर सकता है। बम, प्रक्षेपणास्त्र या मिसाइलों के रूप में एटम, इलेक्ट्रॉन आदि की क्षमताओं का भयंकर प्रदर्शन हो रहा है। ये सभी विज्ञान की शक्तियां हैं जो जड़ पदार्थों के अन्तस्थल से प्रस्फुटित होती हैं।

लेकिन

इनसे भी कोई बड़ी शक्ति है जो भगवान महावीर में निहित थी जिसने निरस्त्र और निःशस्त्र भारतमें अहिंसाकी क्रांतिका विस्तार किया था। यदि बन्दूक की गोली ही एक मात्र शक्ति केन्द्र होता तो भगवान महावीर शस्त्र सम्पन्न राजपद से ऊपर उठकर एक योगी व साधक का रूप क्यों लेते? वह कौनसी शक्ति थी जो बड़े बड़े सम्राट् साहूकारों को त्यागी व सन्यासी महावीर के चरणों में झुका देती थी?

ऐसी ही कोई शक्ति, महात्मा गांधी में थी जिनके कृशकाय शरीर के पीछे सन् १९४२ में हजारों-लाखों भारतवासी स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के लिये एक जुट हो चल पड़े थे। क्या

महात्मा गाधी के पास सैनिकों की लम्बी कतारें थीं ? क्या बम बारूद के भण्डार थ ? क्या साधन और सुविधाए थीं ? नहीं-किन्तु फिर भी क्या कारण था कि गाधी जी ने अग्रेजों की लौह शक्ति का सामना "करो और मरो" के क्रियाशील निनाद से करने का प्रयास किया ? अग्रेजों की लाठी और गोली का प्रत्युत्तर सत्याग्रह तथा अहिंसक सघर्ष से दिया।

स्वातन्त्र्य सपूत भगतसिंह ने एसेम्बली में बम फेंका था भगत सिंह चाहते तो दर्शक गैलरी से भाग खड़े होते किंतु उनने भागने से अधिक उचित पुलिस के सम्मुख प्रत्यार्पण समझा। क्या भगतसिंह अनभिज्ञ थे कि पुलिस की गिरफ्त के बाद उनके लिए प्राण दण्ड का पुरस्कार तय्यार है ? पुलिस की हथकड़िया में जकड़ जाने क बाद उनका स्थान फासी का फन्दा ही होगा ? वे भली भांति इस तथ्य से परिचित थ। फिर क्या उनने अपने आपको मौत क मुह में ढकेला ? इतिहास क घटनाक्रमों का आज तात्विक दृष्टि से विश्लेषित करने की आवश्यकता है।

वास्तविक तथ्य तो यह है कि बमों व बारूद की शक्ति से अधिक प्रभावकारी, उच्च एव वरिष्ठ वह शक्तिया हैं-जिन्हें प्रेम, सहानुभूति, धैर्य, बोध, क्षमा, सहनशीलता, दया, वात्सल्य "स ना आदि रूपों में जाना और पहिचाना जाता है। सामने एक क्रूर व्यक्ति भरी हुई पिस्तौल लेकर आरहा है उसकी अगुली पिस्तौल के अश्व पर स्थिर है और वह गोली दागने हेतु तत्पर है किंतु आपके मृदु वचनों और उत्तम प्रभाव के कारण उसकी अगुली बिना गोली दागे ही अश्व पर से नीचे खिसक सकती है। यदि

— २ —

# विश्व की परिभाषा

गणितिया के वर्गीकरणानुसार संसार में जितनी वस्तुएं अथवा जितने भी पदार्थों का दर्शन होता है उनका विभाजन भी वर्गों में ... रता है।

सामने मेज पर दो वस्तुएँ रखी हुई हों एक साधारण सजीव बालक का और दूसरा उसके समाकार खिलौना हो। यदि दोनों को एकसाथ सुई चुभाई और देखें तो ज्ञात होगा कि यह बालक रोयेगा किन्तु जो खिलौना है वह निर्विकार ज्यों का त्यों रहेगा। स्पष्ट है कि बालक में सुई चुभाने के कारण अनुभूति हुई, संवेदना हुई, स्पन्दन हुआ और रोने के रूप में अभिव्यक्ति प्रस्तुत की जब कि खिलौने में इन सभी का अभाव है। पदार्थों को विभाजित करने का यही मापदण्ड है। जो द्रव्य अनुभूति संवेदना स्पन्दन अभिव्यक्ति से युक्त होते हैं वे चेतन कहलाते हैं तथा जिनमें इनका सर्वथा अभाव होता है वे जड़ के रूप में पहिचाने जाते हैं। चेतन और जड़ ये दो संसार के समस्त पदार्थों के प्रकार हैं। इन्हीं दो तत्त्वों से संसार की निर्मिति हुई है।

जैन दर्शन के अनुसार, "जड़ और चेतन इन दो द्रव्यों के समूह के रूप में संसार को परिभाषित किया गया है। संसार एक समूह है जिसका निर्माण जड़ और चेतन इन दो द्रव्यों से हुआ है। जड़ को निर्जीव अजीव पुद्गल, अचेतन आदि पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं जबकि चेतन को आत्मा, जीव, ज्ञान पुञ्ज आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया जाता है। स्वाभाविक तथा जिसमें चेतना शक्ति का निवास है उन्हें चेतन तथा जिनमें चेतना शक्ति का निवास नहीं है उसे जड़ कहते हैं।

चेतन द्रव्य के अन्तर्गत आत्मा आती है जिसे जीवास्तिकाय कहते हैं तथा जड़ द्रव्य के अन्तर्गत पुद्गलास्तिकाय धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल का

— २ —

# विश्व की परिभाषा

व्यक्तियों के वर्गीकरणानुसार संसार में जितनी वस्तुओं अथवा जितने भी पदार्थों का दर्शन होता है उनका विभाजन दो वर्गों में किया जा सकता है। एक वे पदार्थ जिनमें भावना उत्पन्न होती है, अनुभूति होती है संवेदना होती है अथवा स्वयं स्पन्दन होता है। दूसरे वे पदार्थ हैं जिनमें न भावनाएं हैं न अनुभूति, न संवेदना और न स्वयं स्पन्दन ही होता है।

— ३ —

# अनादि एवं अनन्त

संसार की परिभाषा पर पहुँचने के पश्चात कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं—संसार का प्रारंभ कब हुआ? किसने किया? प्रथम मानव कौन आया? और इसकी स्थिति कब तक है? क्या इसका प्रलय अथवा नाश जैसा कोई तथ्य है? सर्वज्ञ ने अपने ज्ञान से इसे दृष्टिभूत किया और अत्यन्त सुलझा हुआ विचार मथा विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया। जैन दर्शन इस में अपना कोई

समावेश होता है। जब इन छ द्रव्यों की अपेक्षा से संसार का स्वरूप दर्शित किया जाता है तो उल्लेख किया जाता है कि षट् द्रव्यों से संसार का निर्माण हुआ है।



— २ —

# अनादि एवं अनन्त

संसार की परिभाषा पर पहुँचने के पश्चात कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं—संसार का प्रारम्भ कब हुआ? किसने किया? प्रथम मानव कौन आया? और इसकी स्थिति कब तक है? क्या इसका प्रलय अथवा नाश जैसा कोई तथ्य है? सर्वज्ञ ने अपने ज्ञान से इसे दृष्टिभूत किया और अत्यन्त सुलझा हुआ विचार मथन विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया। जैन दर्शन इस में अपना कोट

विश्वास स्थापित नहीं करता कि संसार की किसी व्यक्ति विशेष ने आकर सृष्टि की ।

यदि क्षण भर के लिये किसी को मान भी लें तो कई उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं जैसे सृष्टिकार की स्वयं की सृष्टि किसने की ? क्या वह संसार से अलग है ? यदि हां तो कहां बैठ कर उसने संसार का निर्माण किया ? आदि जैन संस्कृति इस भूलभूलैय्ये में नहीं फंसी उसने दृढतापूर्वक उद्घोषित कर दिया कि संसार को अनादिक्रम प्रवाह मानने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है । अनादि अर्थात् जिसकी कोई आदि नहीं हो, प्रारंभ नहीं हो, शुरुआत नहीं हो । जिस प्रकार किसी बन्ध्या स्त्री के पुत्र का चित्र नहीं खींचा जासकता अनादि की सीमा भी वर्षों युगों या सदियों में निर्धारित नहीं की जासकती । अनादि शब्द स्वयं में स्पष्ट है ।

आज जो प्रश्न किये जाते हैं कि पहिले स्त्री हुई या पुरुष ? अण्डा हुआ या मुर्गी ? बीज हुआ या वृक्ष ? इनका कोई समाधान युक्त उत्तर जैन दर्शन के अतिरिक्त प्राप्त नहीं हो सकता जैन दर्शन ने जो सृष्टि के प्रारंभिक काल को असीम कर अनादि शब्द आलेखित किया है यही एक मात्र समाधान इन प्रश्नों का है । इन सबों को अनादि प्रवाह के रूप में मानना ही युक्तिसङ्गत है ।

एक और जहां संसार का आरम्भ अङ्कों की दृष्टि से निर्णित नहीं किया जासकता है उसी प्रकार से इसका अन्त भी निर्दिष्ट नहीं किया जासकता । जैसे संसार का प्रारंभ असीम है वैसे ही

इसका अन्त भी असीम ही । समार का कभी नाश नहीं होने वाला है-प्राकृतिक परिवर्तन सम्भव है, सुख दुःख के परिवर्तन सम्भव हैं किन्तु इसका नाश कभी भी सम्भव नहीं है। ससार के जीवन काल को पूरी कहानी जैन संस्कृति दो शब्दों में प्रकट करती है और वे हैं "अनादि तथा अनन्त" !

गणित भी आज अपनी संख्याओं में अनादि तथा अनन्त की कल्पनाओं को स्वीकार करता है। शून्य संख्याओं के क्रम में एक दम मध्य में है-सभी धनात्मक संख्याए शून्य से बड़ी होती हैं (जैसे + १, + १०, + १०० आदि) तथा सभी ऋणात्मक संख्याए शून्य से छोटी होती हैं जैसे (१, १०,-१ ० आदि)। यदि विज्ञान से पूछा जाय कि सबसे छोटा सख्या कौनसी है ? जिसे हम आदि सख्या मानलें और सबसे बड़ा संख्या कौनसी है जहां हम गणित संख्याओं का अन्त मानलें तो वह कोई उत्तर नहीं देसकता केवल ऋण अनन्त (Minus infinity) व धन अनन्त (*plus infinity*) के चिह्न बनाने से अधिक कुछ नहीं कर सकता। ये ऋण अनन्त और धन अनन्त के चिह्न ही ससार के लिये जैन दर्शन के दो शब्द अनादि और अनन्त हैं।



— ४ —

# कालचक्रों का व्यवहार

अनादि काल से संसार का अस्तित्व है। जैन संस्कृति इस काल पर क्रमिक परिवर्तनों के सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से दृष्टिपात कर ली है। उसके अनुसार व्यक्ति की सुख, समृद्धि, वैभव, आयु क्रमशः काल व्यतीत होनेपर घटती अथवा बढ़ती है। काल दो चक्रों के मध्य घूमता है जिन्हें कालचक्र कहते हैं। अनादि काल से जिस प्रकार दिवस के बाद रात्रि और रात्रि के उपरान्त दिवस होते आ

रहे हैं उसी प्रकार कालचक्र का एक भाग दूसरे पे यदि प्रभाव शील होता रहता है।

इन दो भागों को उत्सर्पिणी एक अवसर्पिणी काल के रूप में सम्बोधित किया गया है। एक उत्सर्पिणी काल तथा एक अवसर्पिणी काल के व्यतित हो जाने पर एक कालचक्र सम्पूर्ण हो जाता है तथा नया कालचक्र गतिमान होता है।

उत्सर्पिणी काल उसे कहते हैं जिसमें व्यक्ति की समृद्धि, आयु, शरीर, सुख, सम्पन्नता, वैभव क्रमश वृद्धिगत होकर चरमोत्कर्ष पर पहुँचते हैं। अवसर्पिणीकाल उसे कहा गया है जिसमें इन सब का ह्रास होता है और ये नष्ट होकर व्यक्ति को निकृष्ट स्थिति में उतार देते हैं। उत्सर्पिणीकाल का चरमोत्कर्ष आता है तो किसी भी वस्तु की कमी नहीं होती–व्यक्ति को न इच्छा होती है और न लालसा ही। वह सुखी होता है-परम सुखी होता है तथा समुद्र म सुई की नोक के बराबर भी दुःख का उसे दर्शन नहीं होता। दूसरे पक्ष म जब अवसर्पिणी काल चलता है तो मनुष्य की इच्छाएं, लालसाएं, स्वार्थपरताएं बढ़ती जाती हैं वह लडता झगड़ता है, फूट क्लेश मचता है, एक दूसरे के प्रति सशंक होता है और जब इस काल की पराकाष्ठा आती है तो उसका शरीर एक दम लघुकाय होजाता है–ससार में सुख नाम का कोई तथ्य ही शेष नहीं रहता केवल दुःख और दुःख ही दुःख दिखाई देता है। समुद्र में सुई की नोक के समान भी सुख दर्शित नहीं होता।

उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों को ■ छ भागों में विभक्त किया गया है जिस प्रकार वर्ष के १२ भागों में प्रत्येक को महिना कहते हैं उसी प्रकार इन दोनों कालों के प्रत्येक भाग का नाम "आरा" है। दोनों काल में ६-६ आरे होते हैं-इन आरों के नाम इनके गुणो के अनुरूप जैन इतिहास में इस प्रकार सन्दर्भित किये गये हैं ~

(१) सुखमा सुखमा (४) दुखमा सुखमा
(२) सुखमा (५) दुखमा
(३) सुखमा दुखमा (६) दुखमा दुखमा

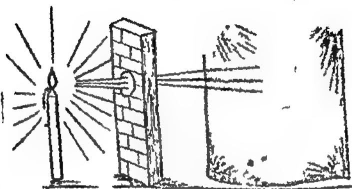
जब इन आरों का क्रम उपरोक्तानुसार गतिशील रहता है याने चरम सुख की परिणति से पराकाष्ठ चरम दुःख का परिवर्तन होता है तो यह काल अवसर्पिणी काल कहलाता है। विपरीत इसके यदि आरा का क्रम उल्टा हो या दुःख की परिणति से चरमोत्कर्ष पर सुख का साम्राज्य हो तो इसे उत्सर्पिणी काल के नाम से सन्दर्भित किया जाता है। जिनका क्रम निम्नानुसार है —

(१) दुखमा दुखमा (४) सुखमा दुखमा
(२) दुखमा (५) सुखमा
(३) दुखमा सुखमा (६) सुखमा सुखमा

इन आरों में सुख दुख का क्रम किस प्रकार प्रभावशील है इसे निम्न प्रयोग द्वारा समझा जासकता है।

माना कि समतल धरातल पर एक प्रकाशपुन्ज ज्वलित किया जाय एव एक पर्दे पर उसके प्रकाश की तीव्रता का अवलो

बन्द किया जाय। दोनों के मध्य एक छिद्र कर दी जाय जिसके छिद्र की लम्बाई ५ से० मी० हो। अब प्रकाश की किरणें पाँच से० मी० लम्बे भाग से प्रविष्ट होकर पर्दे पर प्रकाशित होंगी। यह अवस्था प्रकाश की पूर्णता की होगी जिसमें अधिकतम प्रकाश पर्दे पर आरहा है। प्रकाशित भाग पर अंधकार नाम मात्र का भी नहीं होगा। अब माना कि छिद्र की लम्बाई कम कर ४ से०मी० करदी जाय इस अवस्था में प्रकाश की चमक में अन्तर पड़ेगा किन्तु अंधकार का कोई स्पष्ट दर्शन नहीं होगा। प्रकाश कम तीव्रता वाला दर्शित होगा। धीरे से छिद्र की लम्बाई ३ से०मी० करदी जाय इस अवस्था में प्रकाश की मात्रा और कम होगी किन्तु सूक्ष्म रूप में अंधकार भी अपना प्रभाव प्रदर्शित करना प्रारम्भ करेगा। छिद्र की लम्बाई और घटाई जाय २ से०मी० करदी प्रकाश की ज्योत्स्ना में ह्रास होगा और कालिमा में अभिवृद्धि दोनों समान मात्रा में रहेंगे किन्तु प्रमुखत्व अंधकार का अधिक दृष्टिभूत होगा और आगे यदि छिद्र को केवल १ से० मी० कर दिया इस अवस्था में अंधकार एकदम बढ़ जायगा और प्रकाश एकदम घट जायगा। पर्दे पर अंधकार अधिक और प्रकाश कम मात्रा में होगा। अनन्तर छिद्र एकदम बन्द कर दिया जाय। प्रकाश पूर्णतः नष्ट होजायगा केवल अंधकार ही शेष रहेगा। ठीक इसी प्रकार यदि सुख को प्रकाश और दुःख को अंधकार मानें तो पहिले आरे "सुखमा सुखमा" में सुख और परम सुख होता है, दूसरे आरे में सुख की मात्रा घटती है लेकिन दुःख दिखाई नहीं देता तीसरे आरे में दुःख दर्शन देना प्रारम्भ कर देता है, चौथे आरे में दुःख सुख पर प्रभुत्व जमा लेता है, पांचवें में दुःख की



दुःख धक्के देना प्रारंभ कर देता है और छठे में पूर्ण अंधकार की तरह सुख समाप्त हो कर दुःख ही दुःख छा जाता है। यह अवसर्पिणी का क्रम है।

यदि विपरित क्रम छिद्र के छिद्र को अनावृत करना प्रारंभ करें तो अंधकार से प्रकाश की ओर वृद्धि होती है। उत्सर्पिणी काल में सुख की वृद्धि होती है एवं चरमोत्कर्ष पर चरम सुख की परिणति संसार में व्याप्त रहता है।

अनादिकाल से संसार इन्हीं कालचक्रों में व्यवहृत है। वर्तमान में अवसर्पिणी काल का ५ वा आरा दुःषमा प्रभावशाल है।

— १ —

# जिन, जैन एवं जैन धर्म

उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों कालों में जैन मान्यता के अनुसार २४ २४ तीर्थंकरों का आविर्भाव होता है। ये तीर्थंकर ही अपने उपदेशों द्वारा मानव संस्कृति का परिमार्जन करते हैं। हिंसा, पाखण्ड अथवा अधर्म के रूप में जिस वातावरण को जन-मानस में कथित विधर्मी निर्माण कर देते हैं उसका उच्छेदन करने के लिये तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् धर्म

प्ररूपणा करते हैं। तीर्थंकर योगी होते हैं वे सदैव आत्मलीन होकर स्व व पर कल्याण की भावना से मानव समाज को सही दिशा की ओर प्रवृत्त करते हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित विचार धारा उस समय धर्म का मूलाधारा बनता है एवं यही जैन धर्म के रूप में विश्व रंगमंच पर प्रस्तुत होती है। जैन धर्म 'जिन' शब्द से उद्गमित हुआ है जिसका अर्थ होता है जानने वाला। अपनी इन्द्रियों से संघर्ष कर उनको नियंत्रित करने वाली विभूति को 'जिन' कहते हैं। 'जिन' द्वारा परिभाषित धर्म जैनधर्म के रूप में प्रचारित होता है। 'जिन' की पूजा, उपासना तथा मान्यता रखने वाले 'जैन' माने जाते हैं। जिन, जैन और जैनधर्म तीन शब्द उपास्य, उपासक और उपासना की ओर संकेत करते हैं। जैनों के उपास्य जिन होते हैं और वे जैन धर्म की उपासना करते हैं। जैन जन्म से नहीं आचार से माने गये हैं। जैन धर्म जातिवाद को नहीं मानता कर्मवाद में अपनी आस्था व्यक्त करता है।

इतिहास के इस वास्तविक तथ्य के अनुसार जैन धर्म का नय प्रमाणानुसार, प्रतिपादन एवं विस्तार होता आया है। जबसे काल चक्र की परम्परा है तब से, (अनादिकाल से) जैन धर्म का अस्तित्व है। जैन धर्म की स्थापना न तो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा हुआ है और न किसी सन् संवत को इसकी स्थापना के साथ सम्बन्धित किया जासकता है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति, दर्शन शास्त्र डॉ० राधाकृष्णन् ने मान्य किया है कि "जैन धर्म अगणित समय एवं युगानुयुग से चला आरहा है।" इनके अतिरिक्त डॉ०

जान्स हर्टेल, डॉ० हर्मन याकोबी आदि विदेशी विद्वानों ने भी इसे अनादि परम्परा से मानने में कोई आपत्ति नहीं की है। सनातन धर्मावलम्बियों के पवित्र ग्रन्थों में भी प्राप्त उल्लेखों से यह सिद्ध होगया है कि जैन धर्म अति प्राचीन धर्मों में से एक है। मोहन जोदड़ो एवं हरप्पा में प्राप्त अवशेषों ने इस तथ्य को और अधिक पुष्ट कर दिया है।

जैन धर्म चेतन शक्ति के शुद्धिकरण के तथ्य को आलम्बित कर विकसित हुआ है। उसके आचार विचार एवं व्यवहार आत्म विकास की मूल भित्ती पर ही निर्मित हैं।

जैन धर्म की दिव्य दृष्टि में यदि किसी द्रव्य ने महत्व प्राप्त किया है तो वह केवल चेतन ही है।



— ६ —

# आत्मा : एक अवलोकन

'चेतनो लक्षण जीव' चेतना जिसका लक्षण हो उसे जीव या आत्मा कहते हैं। आत्मा चेतन होती है। जिसमें आत्मा का निवास होता है वह चेतन है। आत्मा का निर्गमन होने पर चेतना शेष नहीं रहती। आत्मा अदृश्य एवं अरूपी है। अदृश्य इस अपेक्षा से कि वह चर्मचक्षुओं द्वारा दृश्य नहीं होती। सर्वज्ञ अपने ज्ञान चक्षुओं से आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं।

आत्मा का कोई रूप रस गंध अथवा स्पर्श नहीं है-अतएव उसे अरूपी सन्दर्भित किया गया है। आत्मा का निवास गृह शरीर है तथा वह शरीर में व्याप्त रहती है। आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं – ये आत्म प्रदेश एक दूसरे से शृंखलित होते हैं। शरीर के जिस जिस भाग में अनुभूति या संवेदना होती है- उस उस भाग में आत्म प्रदेश उपस्थित होते हैं। नाक, आंख, मुख, पेट, हृदय, मस्तिष्क आदि के शरीर में निर्धारित स्थान होते हैं लेकिन आत्मा के लिये कोई केन्द्र निश्चित नहीं होता वह शरीर के प्रत्येक भाग में व्याप्त है। आत्म प्रदेशों की उपस्थिति का परीक्षण अनुभूति की कसौटी पर किया जा सकता है। जहां जहां अनुभूति नहीं होती वह जड़ है जैसे कि बाल, नाखुन, दांत आदि के अग्र भाग। ये जड़ हैं व इनमें आत्मा का निवास नहीं है। जैसा शरीर का आयतन होता है आत्म प्रदेश उसी आयतन में समा जाते हैं।

आत्मा में स्थिति स्थापकता का गुण माना जा सकता है। जिस प्रकार रबर को खींचते हैं तो उसमें दबाव की मात्रा के अनुसार खींचाव होता है उसी प्रकार आत्म प्रदेश आयतन के अनुसार विस्तृत हो जाते हैं अन्तर यही है कि रबर निश्चित सीमा तक ही लम्बाया जा सकता है बाद में टूट जाता है किंतु आत्मा के लिये ऐसी कोई सीमा नहीं है वह अखण्ड ही रहती है उसके कोई भाग प्रभाग संभव नहीं हैं।

एक दीपक हो और उसे पीतल की गिलास में बन्द करें

तो उसका प्रकाश गिलास की दीवालों तक व्याप्त होता है, गिलास को परिवर्तित कर, कुम में रखें, तो प्रकाश के, वे ही परमाणु कुम की दीवालों तक व्याप्त हो जाते हैं और कुम के स्थान पर दीपक के प्रकाश का कमरे में अवलोकन किया जाय तो वे ही परमाणु अपना आयतन कमरे की दीवालों तक व्यापक बना लेते हैं। दीपक के प्रकाश की तरह ही आत्म प्रदेश शरीर के अनुसार अपने अस्तित्व का विस्तार कर लेते हैं।



अतएव जब कोई जीव चींटी के शरीर में होता है तो उसके आत्मप्रदेश चींटी के शरीर तक व्याप्त होते हैं और उसे जब हाथी के शरीर में जाते हैं तो हाथी के शरीर में उसके अनुसार व्यापक बन जाते हैं। आत्मप्रदेशों में न तो वृद्धि होती है और न उनका ह्रास ही होता है। आत्म प्रदेश असीम होते हैं।

आत्मा अक्षय एवं अविनाशी होती है। अक्षय से तात्पर्य है आत्मा अजर-अमर तथा अनिधन है—यह शाश्वत है इसका कभी

क्षय नहीं होता। चाहे संसार में हो या मोक्ष में अपनी स्थिति बनाले तथा भी उसकी परिसमाप्ति नहीं होती। दूसरा उसे किसी भी क्रिया प्रक्रिया द्वारा नष्ट नहीं किया जासकता। कागज़ पानी में रखने पर गलता है, सड़ता है और आग में समर्पित होने पर जलता है किन्तु आत्मा अविनाशी है उस पर सड़ने, गलने, जलने या विनष्ट होने की कोई क्रिया असफल नहीं होता। उद्गत धर्म की ताकत भी आत्मा का नाश नहीं कर सकती।

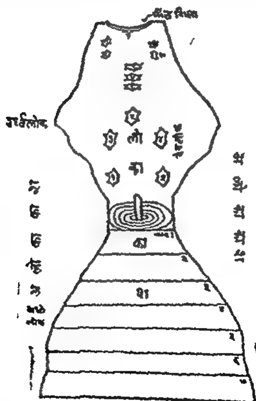
आत्मा का स्थायी वास सिद्ध शिला है लेकिन जिस प्रकार भटकने वाला व्यक्ति विभिन्न धर्मशालाओं में अपना अवगाहन



सिद्धशिला

करता है इसी प्रकार अपने संसार भ्रमण की अवस्था में आत्मा को विभिन्न शरीरों में स्थान ढूंढना पड़ता है। हम कपड़ा पहिनते

हैं एव उसके फट जाने पर दूसरा बदल लेते हैं आत्मा भी श
में प्रविष्ट होती है तथा आयुष्य समाप्त होने पर इसे छोड़
दूसरा शरीर धारण कर लेती है। आत्मा को परिभ्रमण क
पड़ता है–८४ लक्ष जीवायोनियों म वह शरीर बदलने



कार्य करती है तथा १४ राजलोकों में यह घूमता है। आत्मा को इसी अपेक्षा से परिभ्रमणशील के रूप में आलेखित किया गया है। आत्मा के गमन का क्षेत्र ससार का लोकाकाश है जिसमें यह विभिन्न भवों में भटकता है व पूर्ण शुद्धिकरण हो जाने पर ससार से ऊपर उठकर लोकाकाश के अग्रभाग पर स्थित सिद्धशिला पर अपने आपको स्थापित कर लेती है जहा से पुनः उसे ससार में नहीं आना पड़ता। अनन्त अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के न होने के कारण [illegible] कभी उसमें नहीं जाता। आत्मा के गमनागमन की [illegible] काश तक ही सीमीत है। ( देखिये पृष्ठ [illegible]४ का चित्र )

आत्माएं अगणित हैं। प्रत्येक की आत्मा [illegible] एक दूसरे में किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं है। [illegible] इसमें कोई विश्वास नहीं कि समग्र ससार में एक [illegible] है एवं सभी में उसका अंश अथवा प्रतिबिम्ब [illegible] दर्शन के अनुसार प्रत्येक की आत्मा भिन्न है। [illegible] पकाने पर प्रत्येक चावल अलग अलग मो[illegible] जाता है उसी प्रकार संसार के [illegible] प्रत्येक की आत्मा अलग अलग है। [illegible] रूप आत्माएं हैं एवं जितने भी प्राणी [illegible] आत्मा का निवास है।

जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा [illegible] अनन्त ज्ञान आत्मा को स्वाभावि[illegible] न तो यह आत्मा में बाद में [illegible]

से कभी विस्थापित होता है। स्वर्ण में जिस प्रकार पीलापन हर स्थिति में सम्बन्धित होता है आत्मा में ज्ञान का गुण सदैव संलग्न होता है।

आत्मा अनादि है। इसके जन्म की भी कोई तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। संसार के अनादि चक्र में आत्मा भी अनादि काल से अपना अस्तित्व रखे हुए है। जन्म और मृत्यु जैसे कोई दो बिन्दु आत्मा के साथ संयुक्त नहीं किये जा सकते। यह स्वयं निराकार है एवं अनादिकाल से संसार में भटक रही है।



— ७ —

# आत्मा का अस्तित्व

आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व के प्रति सशंक है। जो वस्तु प्रयोगशाला में सिद्ध न की जा सके उसे केवल शास्त्रों के आधार पर मान्य करने हेतु वैज्ञानिक कदापि तय्यार नहीं हैं। आत्मा वैज्ञानिकों के लिये कल्पित कल्पना मनगढ़ है। यही कारण है कि आधुनिकतम विचार धारा में आत्मा एवं आत्मा के शुद्धिकरण की नींव पर विकसित धर्म पुराने तथा दकियानूसी विचा

माने जाने लगे हैं। नास्तिकवादियों ने शरीर व आत्मा को एक मान कर विवाद निपटाने का प्रयोग किया है यहां तक कुछ समझौतावादी पाश्चात्य दर्शनकारों ने आत्मा को मन का भौतिकी चमत्कार कर दिया है। भारत के लगभग सभी प्रमुख दर्शन किसी न किसी रूप में आत्मा को स्वीकार करते हैं जो केवल विचार का विषय नहीं है—वास्तविकता है। जैसा कि पहले कह दिया जा चुका है आत्मा चर्म चक्षुओं का विषय नहीं है फिर चाहे कितने ही सूक्ष्म से सूक्ष्म दर्शी यन्त्र भी लगा दिये जाय वैज्ञानिक अपने फोटोग्राफ़ की गिरफ्त में कभी आत्मा को पकड़ नहीं सकते। आत्मा की मान्यता केवल अनुभूति से ही सिद्ध की जा सकती है। शक्कर में मिठास होती है किंतु मिठास को देखा नहीं जा सकता, मिठास को पकड़ कर हथेली पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। जीभ ही उसका परीक्षण स्थल है। ठीक इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत की जा सकती है सर्वों द्वारा उसकी सिद्धि प्रकट हो सकती है उसके अस्तित्व का परीक्षण साधना की प्रयोगशाला में किया जा सकता है।

हमारे ॥ प्रकार केवल आत्मा शब्द को उच्चारित कर ही मौन नहीं बैठ गये हैं उन्होंने आत्मा के पक्ष में अकाट्य एवं अटल प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। दिव्य सर्वज्ञों ने केवलज्ञान के सूक्ष्मदर्शीयन्त्र से आत्मा का दर्शन किया है एवं विश्व के सम्मुख उसके स्वरूप को प्रकाशित किया है। जो सत्य है वस्तुस्थिति है वही सर्वज्ञ द्वारा प्रकटित है।

जब भगवान महावीर के समवसरण की रचना हुई तब

इन्द्रभूति भी वाद् युद्ध करने के लिये उनके समक्ष गया। वहां वीर विभु ने आत्मा के सम्बन्ध में इन्द्रभूति के संदेहों को जिस प्रभावकारी, परिपूर्ण एवं प्रानालित शैली से दूर किया उसका वर्णन ग्रन्थों में प्राप्त है। उनके पश्चात गणधर भगवंतों, प्रवर आचार्यों प्रकाण्ड विद्वानों ने विचार समुद्र का मंथन कर आत्मा को सिद्ध किया जो जैन दर्शन की अमूल्य धरोहर है। इन सभी को समन्वित कर आत्मा की सिद्धि के कुछ तर्क यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

(१) यदि आत्मा जैसा कोई द्रव्य नहीं है तो फिर शव में चेतना का दर्शन क्यों नहीं होता, वह कार्य क्यों नहीं करता, उसमें बुद्धि व प्रज्ञा शक्ति कुण्ठित क्यों होती है ? उसके अन्दर विवेक शून्यता का अभाव क्या हो जाता है ? स्पष्ट है कि चेतना जिसका लक्षण है वह आत्मा शरीर को त्याग गई है। यदि चेतना शरीर का लक्षण होती तो शव में भी शरीर के अंग प्रत्यंग विद्यमान रहते हैं उसे कार्यशील रहना चाहिये। जब कि वास्तविकता अन्य ही है।

(२) अमावस्या का घना अंधकार, वियावान जंगल में अंधेरी गुफा गुफा में किसी व्यक्ति को खड़ा कर दिया जाय एवं उसके शरीर को कालिमा से पोत दिया जाय। स्वयं का शरीर नहीं दिखाई देता है फिर भी बाहर से आवाज देता है कि भीतर कौन है ? तो वह तुरंत उत्तर देता है "मैं" हूँ। यह मैं कौन है ? क्या शरीर ? लेकिन वह तो दिखाई ही नहीं देता- मानना होगा कि 'मैं' की अनुभूति आत्मा को ही है।

(३) इन्द्रियां शरीर में हैं और कभी उनमें विवाद उत्पन्न हो जाता है, जैसे आम क्रय करने के लिये बाजार गये-आंख ने हरा रंग देख कर कहा 'आम खट्टे हैं,' नाक ने सूंघ कर सिफारिश की कि 'उतने खट्टे नहीं जितना नेत्र कह रहे हैं,' जीभ से स्वाद लिया, जीभ ने कहा 'शक्कर की तरह मृदुता-का इनमें निवास है।' तीन इन्द्रियों ने तीन विसंवादी विवरण प्रस्तुत किये इन विसंवादी विवरणों पर अन्तिम न्याय कर क्रय का निर्णय कौन कर सकता है? आत्मा के अतिरिक्त विकल्प ही नहीं।

(४) वस्त्र, फल, फूलादि जिस प्रकार भोग्य वस्तुएं हैं-शरीर भी भोग्य वस्तु है। वह गंदा होता तो पसंद नहीं आता, उसे स्वच्छ बनाया जाता है, अच्छे वस्त्रों से सुशोभित किया जाता है एवं अलंकारों से अलंकृत किया जाता है। यह सब भोग कौन करता है- शरीर स्वयं कभी नहीं, भोग्य वस्तु का भोगी दूसरा होता है- शरीर से दूसरी आत्मा है।

(५) किसी भी इन्द्रिय के अपनी शक्ति खोने के बाद भी उसकी अनुभूतियां मस्तिष्क में समाहित रहती हैं यह समझदार कौन है? आत्मा ही।

(६) किसी वस्तु का निषेध तभी किया जाता है जबकि वह स्वयं विद्यमान होती है। श्रीमान् क मकान में नहीं हैं यह कहने का सीधा तात्पर्य यही है कि "श्रीमान् क" नाम के कोई व्यक्ति हैं जिनका मकान में होने से निषेध किया गया है। यह टेबल है कुर्सी नहीं इसका अर्थ है कि कुर्सी जैसी कोई वस्तु अवश्य है

ठीक इसी प्रकार जब अनात्मवादी यह कहते हैं कि आत्मा नहीं है या आत्मा शरीर में नहीं माना जासकती तो तुरत यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा जैसा कोई द्रव्य अवश्य है जिसका निषेध किया जारहा है।

(७) शरीर व इन्द्रियों आदि की प्रवृत्तियों पर नियंत्रक रूप में कार्य करने वाला किसे मान्य करें? जैसे पेट में गैस बढ़ गई है यह बाहर आना चाहता है किंतु यदि किसी सभा के मध्य में बैठे हुए हो तो कौन उसके बाह्य आगमन को रोकता है? आत्मा ही। क्रोध आता है और मन कहता है कि गाली देने वाले को तमाचा तमाचा से ठीक कर दें किंतु सामने बलिष्ठ शरीर देखकर आवेश पर नियंत्रण कौन करता है? आत्मा ही।

(८) मानसिक तरंगों में परिवर्तन करने वाला कौन है? सामने मिष्ठान्न की थाली है—जाम के स्वाद से आनन्द का मानसिक लहरें प्रसारित होरही हैं किंतु तभी मनचाहे ने आ निकटतम सम्बन्धि की मृत्यु की सूचना दी। मानसिक तरंगों परिवर्तन होगया—इस परिवर्तन के लिये जिम्मेदार कौन है? सुख और तुरत दुःख की अनुभूति किसने की? आत्मा ने ही।

(९) वर्तमान में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि पूर्व जन्म की स्मृतियाँ कई व्यक्तियों को स्मरण रहीं। जैन धर्म में जातिस्मरण ज्ञान के असंख्य उदाहरण मिलते हैं। पूर्व भव की स्मृति या जाति स्मरण ज्ञान ...अनुभूति ...

इस भय को शृंखलित करने वाला कोई माध्यम अनिवार्य है। यह माध्यम शरीर नहीं हो सकता क्योंकि शरीर तो यहीं रह जाता है एवं चिता पर ज्वलित होकर राख में परिवर्तित हो जाता है। इस माध्यम के रूप में आत्मा ही अस्तित्वमान की जा सकती है।

(१०) अन्तिम प्रिय व्यक्ति अपना संस्थान किसी मार्ग पर स्थापित करता है माहक की मन्दता होने पर मार्ग एवं पड़ोसियों को त्याग कर नये स्थान पर संस्थान को संचारट् करता है। मुद्रा (धन) अधिक प्रिय इसलिये मार्ग बदल दिया। पुत्र का शैशवकाल व्यतीत हुआ तो मुद्राओं के विनिमय द्वारा उसे शिक्षित किया पुत्र मुद्राओं से अधिक प्रिय माना गया। पुत्र गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुआ पत्नि और पुत्रवधू में विवाद हुए। पुत्र को अलग किया-पत्नि से अधिक प्रेम होने के कारण। तो पत्नि सब से प्रिय हुई किंतु मकान को अग्नि ने आ घेरा पत्नि सातवीं मंजिल पर है और स्वयं पहला पर। क्या करता है सड़क पर आकर पत्नि को पुकारेगा (कुछ अपवादों को छोड़ कर) वह स्वयं कभी अग्नि की लपटों से संघर्ष नहीं करेगा। पत्नि से
अधिक अनुराग ही इसका कारण है।
प्रिय पैसा, पैसे से अधिक पुत्र, पुत्र
अधिक स्वय का शरीर प्रिय,
शरीर हुई किंतु कलेप एवं है
शरीर को भी छोड़ देता है
तो उसके सुख के लिये वह

और वह क्या होसकती है ? केवल आत्मा ही।

पचासों इस प्रकार के तर्कों को गया जा सकता है। उपरोक्त तथ्यों से हम इस निर्णय पर निस्संदेह आना प कि आत्मा को मानना कोई अन्धविश्वास नहीं है।



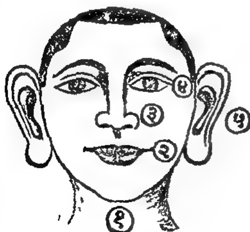
— ८ —

# आत्मा के भेद-प्रभेद

आत्माओं को उनकी अवस्था के अनुरूप भिन्न भिन्न वर्गों म वर्गीकृत किया जाता है लेकिन मूलत आत्माए दो प्रकार की मानी गई हैं एक वे जो ससार में परिभ्रमण करता हैं और दूसरी वे जो सासारिक बधनों में मुक्त होकर शुद्ध-बुद्ध एव मुक्त अवस्था में सिद्धशिला पर स्थापित होगई हैं। ससार म गमन करने वाली आत्माए 'ससारी' तथा ससार से मुक्त आत्माए 'मुक्त' रूप म सम्बो-

धित की जाती हैं। इस प्रकार आत्मा के दो प्रकारों का प्रकाशन हुआ एक संसारी तथा दूसरी मुक्त।

संसारी आत्माओं को पुनः दो वर्गों में विभक्त किया गया स्थावर एवं त्रस। जो स्थिर रहती हैं, प्रतिकूल अवसरों में भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जासकती हैं वे स्थावर कहलाती हैं जैसे वनस्पति में उपस्थित जीव। विपरीत जो हलन चलन करती हैं वे त्रस की परिधि में मान्य की गई हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें परिभाषित करें तो जिन आत्माओं का त्रास अव्यक्त होता है वे स्थावर कहलाती हैं तथा जिनका त्रास व्यक्त होता है वे त्रस मानी गई हैं। स्थावर के अन्तर्गत सभी एकेन्द्रिय जीव आते हैं अथवा त्रस में द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय का समावेश किया गया है।




पांच इन्द्रियां

१ स्पर्श

२ रसना

३ घ्राण

४ चक्षु

५ श्रोत्र

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय ये नामकरण इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं। इन्द्रियां ५ प्रकार की हैं जिनका क्रम इस प्रकार निर्धारित किया गया है स्पर्श (त्वचा), रसना (जीभ) घ्राण (नाक), चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कान)। जो एकेन्द्रिय जीव होते हैं उनके केवल एक इन्द्रिय होती है मात्र स्पर्श। जो द्वीन्द्रिय होते हैं उनके दो इन्द्रियां होती हैं स्पर्श एवं रसना। इस प्रकार त्रीन्द्रिय के तीन इन्द्रियां-स्पर्श, रसना, घ्राण-चतुरिन्द्रिय के चार स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु एवं पञ्चेन्द्रिय के पांचों इन्द्रियां स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र होती हैं।

स्थावर के एक इन्द्रिय (एकेन्द्रिय-केवल त्वचा) होती है। एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के शरीरों में निवास करते हैं पृथ्वीकाय, अप्काय (पानीकाय), तेजस्काय (अग्निकाय), वायुकाय (वायुकाय) वनस्पतिकाय (शाक,वृक्षादि)। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ये सभी शरीर हैं तथा इनमें आत्मा का निवास होता है।

वनस्पतिकाय दो प्रकार के उल्लेखित किये गये हैं एक वे जिनके एक शरीर में केवल एक आत्मा का निवास होता है और दूसरे वे जिनके एक शरीर में एक से अधिक (अनन्तानन्त) आत्माओं को अवगाहन प्राप्त होता है। पहली श्रेणी के जीवों को प्रत्येक वनस्पतिकाय तथा दूसरी श्रेणी के जीवों को साधारण वनस्पतिकाय नाम दिये गये हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय में गेहूँ, चना आदि का समावेश होता है जबकि साधारण में सभी जमीकन्द आलू, रतालु, मूली, शकरकन्द आदि आते हैं। गेहूँ के बीज का तथा आलू का परीक्षण करें तो प्रत्येक तथा साधारण दोनों श्रेणियों के साक्षात्

उदाहरणों से हम अवगत हो सकते हैं। गेहूं के बीज को बोने पर वह पुनः अंकुरित हो उठता है किंतु उसके दो टुकड़े करने के बाद यदि उसे बोया जाय तो पुनरांकुरण की बात सम्भव नहीं है। स्पष्ट है कि जब गेहूँ पर आघात किया गया तो आत्मा चली गई एवं खण्ड खण्ड शरीर शेष रह गया जिसमें पुनर्जनन की शक्ति नहीं रहा यानी एक शरीर में एक आत्मा थी जो शरीर के टुकड़े करने पर निर्गमित होगई यदि एक से अधिक आत्माएं होती तो गेहूँ के खण्डित भागों में अवश्य उनका अस्तित्व रहता जिन्हें बोने से अंकुरण अवश्यम्भावी था। दूसरी ओर हम आलू को भागों में विभक्त करें और बोयें तो देखते हैं कि आलू के प्रत्येक भाग में अंकुरण होजाता है कारण यही है कि हर भाग में खण्ड विखण्ड होने के उपरान्त भी भिन्न भिन्न आत्माएं विद्यमान हैं। अतएव आलू आदि अनन्तकाय यानी एक शरीर में अनन्त आत्माओं से युक्त माने जाते हैं।

शेष द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव त्रस में आते हैं द्वीन्द्रिय में कीड़ा, शंख, जोंक, केंचुए, कृमि लट आदि त्रीन्द्रिय में चींटी, खटमल, घोंघा, मकोड़ा, लीख जूं आदि चतुरिन्द्रिय में भौंरे, मच्छर, मक्खी, टिड्डी बिच्छु आदि होते हैं।

स्थावर जीवों को दो अन्य रूपों में भी व्यक्त किया गया है सूक्ष्म एवं बादर। सूक्ष्म यान व स्थावर जीव जो लोकाकाश में व्याप्त रहते हैं किन्तु चर्म चक्षुओं द्वारा दृष्टिभूत नहीं किये जा सकते—बादर चर्म चक्षुओं द्वारा देखे जासकते हैं।

पञ्चेन्द्रिय आत्माएं चार कक्षाओं में विभेन्द्रित की गई हैं मनुष्य, नरक, तिर्यंच और देव।

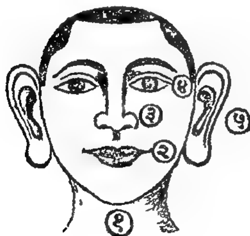
— ८ —

# आत्मा के भेद-प्रभेद

आत्माओं को उनकी अवस्था के अनुरूप भिन्न भिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है लेकिन मूलत आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं एक वे जो संसार में परिभ्रमण करती हैं और दूसरी वे जो सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त अवस्था में सिद्धशिला पर स्थापित होगई हैं। संसार में गमन करने वाली आत्माएँ 'संसारी' तथा संसार से मुक्त आत्माएँ 'मुक्त' रूप में सम्बो-

थित की जाती हैं। इस प्रकार आत्मा के दो प्रकारों का प्रकाशन हुआ एक ससारी तथा दूसरी मुक्त।

ससारी आत्माओं को पुन दो वर्गों में विभक्त किया गया स्थावर एव त्रस। जो स्थिर रहता है, प्रतिकूल अवसरों मे भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जासकता है वे स्थावर कहलाता है जैसे वनस्पति में उपस्थित जीव। विपरीत जो हलन चलन करती हैं व त्रस की परिधि म मान्य की गई हैं। दूसरे शब्दों मे इन्हें परिभाषित करें तो जिन आत्माओं का त्रास अव्यक्त होता है वे स्थावर कहलाती हैं तथा जिनका त्रास व्यक्त होता है वे त्रस मानी गई हैं। स्थावर के अन्तर्गत सभी एकेन्द्रिय जीव आते हैं जबकि त्रस में द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय का समावेश किया गया है।




पाच इन्द्रिया

१ स्पर्श

२ रसना

३ घ्राण

४ चक्षु

५ श्रोत्र

## जीव की पर्याप्ति

आत्मा परिभ्रमण शील है उसे एक भव से दूसरे भव तथा एक गति से दूसरी गति में घूमना पड़ता है, योनियों में जन्म लेना पड़ता है। मृत्यु हुई तो नाश केवल शरीर का होता है आत्मा को तो एक मकान त्याग कर दूसरे में जाना मात्र होना ही पड़ता है। जब आयुष्य समाप्त हो जाता है तो आत्मा दूसरे भव में जाकर अपना शरीर का ग्रहण करती है। सर्व प्रथम वह आहार के पुद्गल भोजन रूप में ग्रहण करती है। आत्मा के साथ तैजस् शरीर को भी एक भव से दूसरे भव में जाने का पासपत्र प्राप्त है इस तैजस् शरीर के सहयोग से आत्मा आहार को पचाती है एवं रक्त, रुधिर, मज्जादि का निर्माण करते हुए शरीर तथा इन्द्रियों का गठन करता है। सर्व प्रथम आत्मा आहार लेने, शरीर गठन एवं इन्द्रियां का प्रकट करने में व्यस्त रहती है फिर श्वास के पुद्गलों को ग्रहण कर अपने आप में श्वासोच्छ्वास की शक्ति एकत्रित करती है। एकेन्द्रिय जीव तो यहीं रुक जाते हैं किन्तु जिनके जीभ होती है वे भाषा के पुद्गलों से अपने आप में अभिव्यक्ति की शक्ति का सर्जन करते हैं। सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मन के पुद्गलों से मन की रचना करने तक क्रिया शील रहते हैं। इस प्रकार आत्मा पर्याप्त अपर्याप्त नाम कर्म के कारण छ शक्तियों का विकास करता है आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मन। ये छ पर्याप्ति के रूप में आलेखित किये जाते हैं।

## जीव की प्राण शक्तियाँ

जीव को प्राणी के शाब्दिक व्यूह में भी कहीं कहीं कसा गया है। प्राणी अर्थात प्राण से युक्त जो प्राणों से युक्त होते हैं वे प्राणी। प्राण से तात्पर्य है कुछ शक्तियों से जो आत्मा में उसकी स्थिति के क्रमानुसार होती हैं।

सबसे विकसित अवस्था वाला संसारी आत्मा के १० प्राण माने गये हैं। 'सबसे विकसित से स्पष्ट संकेत पञ्चेन्द्रिय की ओर ही हो सकता है। पञ्चेन्द्रिय की १० प्राण शक्तियाँ मानी गई हैं-

५ इन्द्रियों की शक्ति + ३ मन वचन काया का बल
+ १ श्वासोच्छवास + १ आयुष्य = १०

अन्य जीवों की प्राण शक्तियाँ निम्नानुसार हैं

चतुरिन्द्रिय की प्राण शक्तियाँ-

४ इन्द्रियों की शक्ति + २ वचन काया का बल + १ श्वासोच्छवास
+ १ आयुष्य = ८ प्राण शक्तियाँ

त्रीन्द्रिय—

३ इन्द्रियों की शक्ति + २ वचन काया का बल + १ श्वासोच्छवास
+ १ आयुष्य = ७ प्राण शक्तियाँ

द्वीन्द्रिय—

२ इन्द्रियों की शक्ति + २ वचन काया का बल + १ श्वासोच्छवास
+ १ आयुष्य = ६ प्राण शक्तियाँ

एकेन्द्रिय—
१ इन्द्रियकी शक्ति + १ काया का बल + १श्वासोच्छ्वास
+ १ आयुष्य = ४ प्राण शक्तियां

जिन पञ्चेन्द्रिय में मन होता है उन्हें सज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं तथा जिनमें मन नहीं होता वे असज्ञी पञ्चेन्द्रिय आत्माएं मानी जाती हैं। सज्ञी में प्राणशक्तियां १० होती ही हैं किंतु असज्ञी मन न होने से केवल ९ प्राण शक्तियों से ही युक्त होती हैं।

योनियां

आत्मा का विभिन्न भवों में शरीर सहित जन्म होता है। आत्मा जितने प्रकार के उत्पत्ति स्थलों से जन्म ले सकता है उनकी संख्या ८४ लाख निर्दिष्ट की गई है। समान रूप, रस गंध, स्पर्श वाले पुद्गलों का एक ही योनि में समावेश किया गया है। ८४ लाख की गणना इस प्रकार है—

| | |
|---|---|
| पृथ्वीकाय | ७ लाख |
| अप्काय | ७ लाख |
| तेउकाय | ७ लाख |
| वाउकाय | ७ लाख |
| साधारण वनस्पतिकाय | १४ लाख |
| प्रत्येक वनस्पतिकाय | १० लाख |
| द्वीन्द्रिय | २ लाख |
| त्रीन्द्रिय | २ लाख |

| | |
|---|---|
| चतुरिन्द्रिय | २ लाख |
| देवता | ४ लाख |
| नारक | ४ लाख |
| तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय | ४ लाख |
| मनुष्य | १४ लाख |



— १ —

# क्या वनस्पति में जीव होता है?

डॉ जगदीशचन्द्र वसु ने अपने अनुसन्धानों के बल पर वैज्ञानिक विचारधारा को नई क्रांति दिशा दी। अर्वाचीन उपकरणों के माध्यम से उनने विश्व के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया कि वनस्पति में जीव होता है, प्राण होते हैं। वनस्पति भी मानव के समान रुदन करती है, हर्षित होती है, सुख-दुःख की अनुभूति करती है।

डॉ वसु ने स्वयं एक विश्व

विद्यालय के छात्र समूह को सम्बोधित करते हुए कहा था कि 'जिस ज्ञान को मैंने अनावृत्त किया है उसे मुझसे भी पूर्व रहस्य सहित भारत का कोई भी जैन साधु प्रकट कर सकता है।' यथार्थ भी यही है। जैन दर्शन ने एकेन्द्रिय जातों के रूप में फूल, पत्ती, घास, वृक्ष आदि में आत्मा या चेतन शक्ति का प्रावधान किया है उसे विज्ञान के द्वारा प्रयोग एवं परीक्षण की कसौटी पर कस कर ही प्रस्तुत किया गया। जैन धर्म का निश्चित एवं प्रबल मत रहा है कि वनस्पति में आत्मा का निवास है तथा उसमें ४ प्राण शक्तिया होता हैं। केवल वनस्पति ही नहीं अग्नि, वायु, पृथ्वी एवं जल में भी जीव मानता है जिनकी सिद्धि भविष्य में अपेक्षित है।

दर्शन ने सदैव तर्क का सम्बल लिया है। वनस्पति में जीव (आत्मा) होने के कुछ तर्क निम्नानुसार हैं —

(१) आज जन्म लेने वाले बच्चे की लम्बाई पौन फुट होती है। ५ वर्ष उपरान्त ३ फीट होजाती है एव २० वर्ष की आयु वही बच्चा ६ फीट का जवान बन जाता है।

आज एक टेबल निर्माण किया गया उसकी ऊँचाई ४ फुट है। अब यदि प्रश्न किया जाय कि ४ वर्ष बाद कितने फुट ऊँची होजायगी एव १० वर्ष के उपरान्त कितनी ऊँचाई की वृद्धि होजायगी तो उत्तर प्राप्त होगा कि नहीं, ... है। ... २०० वर्ष उपरान्त भी ४ फीट ही ...

लम्बाई चौडाई म अतर क्यों नहीं होता ? स्पष्ट है कि जो चेतन है उसी में वृद्धि होती है। जड़ ज्यों के त्यों रहते हैं।

उपरोक्तानुसार निर्धारण किया जाता है कि जो चेतन होते हैं उनके आकार में ही वृद्धि समव है- जड़ पदार्थों के आकार म नहीं।

तर्क की इस कसौटी पर बीज का परीक्षण करें। एक बीज जो आधा इच है आज बोया जाता है, कुछ दिनों म अकुर फूटने पर वह पौधा बनता है व एक वृक्ष भी हो जाता है। कुछ वर्षों पश्चात वह वृक्ष बनकर कई फीट ऊचा अपना सिर उठा लेता है। याने बीज ने वृक्ष का रूप ले लिया। ऊचाई, लम्बाई चौडाई में वृद्धि हुई। उपरोक्त निर्धारण के अनुसार यदि वृद्धि उसी की होती है जिसमे आत्मा होती है तो निर्णायक रूप से वनस्पति म आत्मा का निवास है।

(२) प्रजनन शक्ति चेतन में ही होती है-जड़ म नहीं। जिस प्रकार मानव योनि से मानव, हाथी की योनि से हाथी, सर्प की योनि मे सर्प उत्पन्न होते हैं कभी रेल से रेल मोटर से मोटर या हवाई जहाज से हवाई जहाज उत्पन्न नहीं हो पाये क्या कारण है? स्पष्ट चेतन और जड़ का अतर है।

चूंकि बीज में से बीज जन्म लेता है अतएव बीज में आत्म शक्ति का निवास मान्य करना अनिवार्य है।

(३) उसी शरीर के परमाणु एकमेक हो सके हैं जिसमे

आत्म शक्ति होती है। जैसे मानव शरीरसे कुछ चमड़ी कटाली जाय तो कटा हुआ भाग जीवन भर वैसा ही नहीं रहता शरीर के अन्य भागों के साथ कुछ दिनों में एक समान हो जाता है।

दूसरी और यदि टेबल में से कुछ भाग काट दिया जाय तो क्या उतना भाग कभी एकमेक होजाता है नहीं ! कारण यही कि वह जड है।

वृक्ष के विषय को देखें तो उस पर से जो छाल दूर कर दी जाती है उसका स्थान लेने नयी नवीन छाल अस्तित्वशील बन जाती है। निर्विवाद वृक्ष में आत्मशक्ति है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर यह सत्य निश्चित रूप से प्रतिष्ठापित किया जासकता है कि वनस्पति में आत्मा का निवास होता है।



— १० —

# जड़ का स्वरूप

पूर्णिमा के विपरीत स्वभाव वन्त अमावस्या का जिस प्रकार अस्तित्व है उसी प्रकार चेतन के साथ जड़ का अस्तित्व है। आत्मा चेतन है जिसका स्वभाव चेतना है लेकिन इसके विपरीत स्वभाव वाला द्रव्य भी जैन दर्शनकारों ने अन्वेषित किया है जो अचेत है जिसमे प्राण नहीं होते, जो निर्जीव होता है। इसका नाम है जड़ अथवा पुद्गल, अजीव, अचेत। जैसे श्वेत रंग का विपरीत

स्वभाव वाला श्याम रंग है, मृदुता का तिक्तता, एवं प्रकाश का अंधकार है उसी प्रकार चेतन का विपरीत जड़ है या दूसरे शब्दों में जीव का विपरीत अजीव है। जीव के साथ जड़ का संयोग होने पर संसार का संचालन तथा सृजन होता है। समग्र विश्व जड़ पदार्थों से कूट कूट कर भरा हुआ है। ऊपरी आधार पर जड़ का निरीक्षण यही है कि इसमें चेतना नहीं होती। जिन पदार्थों में अनुभूति, संवेदना, भावना अथवा स्वयं स्पन्दन होता है वे पदार्थ चेतन कहलाते हैं ठीक इसका दूसरा पहलू जिन पदार्थों में अनुभूति, संवेदना, भावना अथवा स्वयं स्पन्दन नहीं होता वे पदार्थ जड़ कहलाते हैं।

अजीव पदार्थ संसार में पांच प्रकार के माने गये हैं पुद्गल धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश एवं काल। ये पांच और छठा चेतन आत्मा इस प्रकार ये छह मिलकर 'षड्द्रव्य' कहलाते हैं जिनसे संसार की निर्मिति हुई है। संसार के सृजन एवं संचालन हेतु ये ही उत्तरदायी माने गये हैं।



— ११ —

# संसार का संचालन

## (षड्द्रव्यों की व्याख्या)

संसार के सञ्चालन में पाच जड़ द्रव्यों तथा एक चेतन द्रव्य का योगदान है। चेतन द्रव्य को विस्तार पूर्वक विश्लेषित किया जा चुका है। पाच जड़ द्रव्यों का क्रमशः यहा संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है-

### (१) पुद्गल

पुद्गल शब्द पुद् तथा गल दो भिन्न भिन्न पदों की उपलब्धि है। पुद् से मतलब है संयोग, संगठन, संश्लेषण एवं गल का

आशय है विघटन, विकेन्द्रीकरण, विभाजपन। जिस वस्तु मे केन्द्रीकरण व विकेन्द्रीकरण, सगठन व विगठन, सयोग एव वियोग दोनों सम्भव हैं वह पुद्गल है। पुद्गल रूप, रस, गध व स्पर्श से युक्त होता है। नाशवान होता है। इसमें छेदन भेदन सड़न - गलन की क्रियाए होती हैं। यह द्रव्य होता है- दृष्टि से देखा जा सकता है। उसका रूप सूक्ष्म से लेकर बृहद् तक होता है। शरीर, लकड़ी ये सभी पुद्गल के रूप हैं।

जैसा कि जड़ होने के कारण ज्ञात ही है यह अचेत होता है। यह कर्म के रूप में आत्मा के साथ सयुक्त रहता है एव इसी के कारण आत्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है।

## (२) आकाश

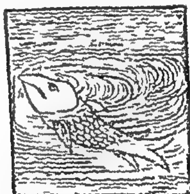
आकाश के रूप में एक ऐसे द्रव्य का प्रावधान किया गया है जो सर्वव्यापी है। ससार का कोई ऐसा कोना या स्थान नहीं जहा आकाश न हो। अनन्त तक इसकी सीमाए विस्तृत हैं। आकाश अवकाश देता है, अवगाहन प्रदान करता है। ससार के समस्त द्रव्यों को रहने के लिये जो स्थान या अवगाहन देता है वही द्रव्य आकाश है। यह अचेत, अरूपी और अगम्य है। यह अखड रहता है फिर भी वस्तुओं की अपेक्षा से घटाकाश मठाकाश आदि पर्याय इसके माने गये हैं।

आत्मा परिभ्रमण के समय आकाश में ही अपना स्थान ग्रहण करती है। आकाश अनन्त है लेकिन एक निश्चित माप तक ही आत्मा का परिभ्रमण होसकता है वह असत

जा सकती। आकाश का जितना भाग आत्मा के गमनागमन हेतु निश्चित है वह लोकाकाश कहा जाता है शेष को अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में आत्मा का परिभ्रमण सम्भव नहीं है।

### (3) धर्मास्तिकाय

आत्मा एवं पुद्गल के आवागमन में धर्मास्तिकाय को एक माध्यम माना गया है। यह अरूपी होता है तथा लोकाकाश तक ही व्याप्त होता है। यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है। तालाब में



मछली जहाँ तक गमनागमन करती है वहाँ तक कि पानी होता है। गमनागमन की शक्ति स्वयं मछली की है किंतु पानी का माध्यम उसकी गति में सहायक है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय द्रव्य आत्मा के गमनागमन में गति सहायक द्रव्य है। जहाँ पानी नहीं होता वहाँ मछली नहीं जा सकती जहाँ धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं होता आत्मा यात्रा नहीं कर सकता। यही कारण है कि आत्मा एवं पुद्गल का आवागमन केवल लोकाकाश तक ही सीमित है।

### (२) अपदमितभाव

उस प्रम निराश वृत्ति स्वाभाव प्रभाव रहा है यहाँ अपराध निराश के मध्य में लब दूसरा दुख और निराशाओं से युवा-जीवन की स्थापित है या स्थिति स्वाभाव है। अथवा इसे युवक की स्पष्ट स्थिति निराश व कारण इस प्रकार इस है जिनमें निराश और भी विचार व स्वाभाव से जनता जाता है। अतः परिणाम में अपने निराश जाता है अभिरुचि नहीं है।

युवक स्वाभाव अपमानितभाव की स्थ वात व फिर सब उसी का स्वाभाव प्रदान करता है जिस पर इस के लिए उसकी के मार्ग की आवश्यकता होता है। जिस प्रकार के मार्ग अपनी स्थिति नहीं बना सका—वही मानव अपना और अपना स्थिति बनाने व, अपना निराश व द्वारा प्राप्त होता है।

इस भय और अपमान स्थिति का अथ

पुण्य पाप या अच्छी बुरी प्रवृत्ति से कदापि नहीं है। यहां इन पदों का प्रयोग द्रव्यों के रूप में हुआ है जिनका उक्त अर्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(५) काल

काल याने समय ! जो क्षण क्षण बीतता है। भविष्य वर्तमान और वर्तमान भूत में जिसके कारण परिवर्तित होता है वह काल ही है। काल स्वयमेव वर्तन करता है। आज का शिशु कल किशोर, परसों युवक, बाद में प्रौढ़ और अन्त में वृद्ध कहलाने लगता है—यह किस कारण से केवल काल के बीतने से, काल के वर्तन से, काल के व्यवहृत होने से ? समय अरूपी है तथा यह सदैव बिना किसी अवरोध के गतिशील रहता है। इसे समय, क्षण, घड़ी पल, दिन आदि से मापा जाता है। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार इसके माप सेकिण्ड, मिनिट, घण्टे दिन होते हैं।



— १२ —

# कर्म की कन्दरायें

जैन संस्कृति सभी आत्माओं का मूल स्थिति में शुद्ध-बुद्ध मुक्त निरंजन एवं निराकार मानता है लेकिन इन्हीं आत्माओं के व्यवहृत संसार एवं समाजचारी जगत के वर्तमानीकरण दृश्य से कम नहीं है। भिन्न भिन्न रंग भिन्न भिन्न रूप! विविधताओं, विषमताओं एवं विचित्रताओं का बहुभार नग्न दर्शन! अलग अलग आकृति अलग अलग प्रकृति! कोई कुत्ता, कोई गधा, कोई बिल्ली, कोई—

चींटी, कोई हाथी, कोई देव, कोई दानव, तो कोई मानव! प्रत्येक में पुनः भयंकर विरोधाभास! सभी मानव भी समान नहीं! कहीं आपत्ति तथा विपत्ति का भयंकर त्रास तो कहीं सम्पत्ति एवं समृद्धि का गगन चुम्बी ढेर! एक ओर रोग व शोक का उत्पादन तो दूसरी ओर भोग की सामग्री का भरपूर सचालन! एक में ज्ञान का सचालन तो दूसरे में मूर्खता का घट भी रीता!

सभी आत्माओं को समान माना गया तो एक मोघा और दूसरा सौम्य क्यों? एक ही मां के उदर से जन्म लेने वाला अपना श्यामवर्ण वाला और अनुज को गौर वर्ण क्या? एक ही मार्ग में बराबरी में बैठकर समान व्यापार करनेवाले एक दुकानदार में अपने मकान पर सात मंजिलें चढ़ा लेने की सम्पन्नता और दूसरा छप्पर डाल कर्याने में भी असमर्थ क्या? बचपन के दो लंगोटिये यारों में पहिला अंगूठा छाप फिर भी मखमली शय्या पर आराम करता है जब कि दूसरा उपाधिकारी होने पर भी फुटपाथ पर रात्रि व्यतीत करने हेतु बाध्य क्यों?

एक ही कक्षा में पढ़नेवाले ३० विद्यार्थियों में से कुछ के लिये शीघ्रता से विषय स्पष्ट होजाता है और अन्य के लिए पुरुषार्थ के बाद भी देर कभी ही रह जाता है? किसी के बालकों की लम्बी कतार लगी हुई है और कोई अपने वंश को चलाने के लिये पत्थर पत्थर पूज मानकर भी खाली हाथ है? किसी का विकास राष्ट्रपति प्रधानमंत्री पद तक हो गया है तो कोई चपरासी बनकर रजत मदम चटता रहा है।

कोई जाता भर आठ खाने के बाद भी लोक सभा

मैं नहीं पहुंच पाता और दूसरा नया नया राजनीति में प्रविष्ट होकर संसद का परिपत्र प्राप्त कर लेता है। एक ओर ८० वर्ष का उम्र होने के बाद प्रतिदिन मौत मांगने पर भी मृत्यु आने का नाम नहीं लेती और दूसरी ओर जवानी में ठोकर खाकर रहीं कि वहीं परलोक को प्रस्थान हो जाना है? कई धना हैं खाने वाले नहीं हैं वहां खाने वाले हैं तो खाना नहीं है। आखिर यह अंतर क्यों है? इन सबकी पृष्ठभूमि में कोई समर्थ कारण होना आवश्यक है। अनिवार्य कोई शक्ति है जिससे कारण विविधता की यह स्थिति उत्पन्न होती है।

विश्व के दर्शन शास्त्री विश्व की इस विविधता के विश्लेषण में भरसक रूप से भटके हैं। सभी ने कोई न कोई नाम प्रस्तुत कर इसका समाधान करने का प्रयास किया है। न्याय वैशेषिक दर्शन ने इसे 'अदृश्य' कहा है मीमांसक 'अपूर्व' कहते हैं और सांख्य योग दर्शन ने 'आशय' की ओर संकेत किया। वैदिक दर्शन माया अविद्या को प्रकृति को लेकर सम्मुख आया तथा [illegible]। [illegible] ने 'वासना' का पल्ला पकड़ कर तर्कों का [illegible], स्थिति बनाई। पाश्चात्य दर्शनकार सौभाग्य-दुर्भाग्य ([illegible] & Good luck) कह कर बात को टाल गये [illegible] मान कर भी इस प्रश्न का हल किया गया [illegible] न वैज्ञानिक पद्धति से अटल तथ्य प्रस्तुत किए [illegible] ही इन सबके लिए उत्तरदायी है। [illegible] करवाता है, कर्म ही इन सबके पीछे [illegible] कारण है। [illegible] जड़ है, चेतन आत्मा पर वह अपना प्रभाव [illegible]

शक्तियों पर नियन्त्रण करता है। आत्मा कार्य करती है और उसी के अनुसार उस पर आठ कर्मों का बंध उस पर होता है। कर्म सम्बन्धी विचारधारा ने ही जैन दर्शन को वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप प्रदान किया है।

आत्मा अपने मूल स्वरूप में एकदम विशुद्ध अवस्था में है किन्तु कर्मों के कारण विकृत होकर संसार में व्यामोहित है। आत्मा का अपना निवास सिद्धशिला है लेकिन कर्म के दिग्भ्रम के कारण इसे शरीर रूपी धर्मशालाओं में अवकाश लेना पड़ता है– जहां से आयुष्य होने पर उसका बिस्तर गोल होजाता है। आत्मा का अपना गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख है किन्तु कर्म के चक्रव्यूह में फंसकर उसे अज्ञान, व्यथा, दुःखादि की पराधीनता स्वीकार करना पड़ता है। आत्मा का स्वयं का स्वभाव केवल आत्म रमणता है लेकिन कर्मों के जंजाल से वह पुद्गलों के पीछे मृग के चक्कर लगाता फिरता है।

जब राग द्वेषादि से प्रेरित कार्य होता है तब आत्मा में कर्मवर्गणा का आगमन होता है फलतः उसके अनुरूप कर्म आत्मा में समा जाते हैं। आत्मा में कर्म समाने के साक्षात्करण हेतु जैन विद्वानों ने दूध और पानी का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार दूध में एक लोटा पानी मिलाने पर वह दूध के प्रत्येक कण में व्याप्त होजाती है उसी प्रकार कर्म बंध होने पर वह आत्मा में सम्मिश्रित होजाता है। कर्म के बंध हेतु दर्शन शास्त्रियों ने एक अन्य उदाहरण द्वारा स्थिति स्पष्ट की है। जिसके अनुसार जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर तेल की बुंद गिरने पर वह फैल जाती है तथा

— १३ —

# कर्मों के आठ प्रकार

गगन मण्डल में सूर्य
प्रखरता, तेजस्विता एवं
दिव्यता पूर्वक अपनी रश्मियाँ
बिखरते हुए परिक्रमा करता है।
उसमें असीम ऊष्मा होती है, प्रबल
प्रकाश होता है, तीव्र तेज होता है
ये सभी निरंतर धरती पर वसुधा को
छूते रहते हैं किंतु घटाओं के
घिरते ही धरा तक पहुँचने वाला
उसकी ऊष्मा मन्द हो जाती है,
प्रकाश तिरोहित होने लगता है एवं
तेज निस्तेज हो जाता है

जीव

मोहनीय

सम्यक्त्व
वीतरागता

ज्ञानावरण

अनन्त ज्ञान

दर्शनावरण

अनन्त दर्शन

अन्तराय

वेदनीय

आयु कर्म

अक्षय स्थिति

नाम कर्म

अमूर्तत्व

गोत्र कर्म

अगुरुलघु

राग-द्वेष

ने सभी विद्यमान रहते हैं लेकिन मेघ सतह के कारण पृथ्वी तक आ नहा पाते। पृथ्वी पर उसका केवल वैभाविक स्वरूप दृश्य मान होता है। आत्मा म भी अनन्त ज्ञान की प्रचुरता है, अनन्त दर्शन की विपुलता है, अनन्त सुख की समृद्धि है, सम्य क्त्व की प्रगाढ़ता है, अनन्तवीर्य का तेजस्वीता है, अक्षय स्थिति की अखण्डता है, अरूपिता का अमृत है एव अगुरु लघुता की आभा है किन्तु जब कर्म घटाए उसे आच्छादित कर देती हैं तो अज्ञान, अन्तराय, मिथ्यात्व, दुर्बलता, सुख दु ख, जन्म-मृत्यु, सौभाग्य-दौर्भाग्य, यश-अपयश, गति-जाति-शरीर की विकृतियां अपना रूप दिखाना प्रारम्भ करदेती हैं। ये घटाए जितनी घनी होती हैं उतना ही अन्धकार (या आत्मा का विकृत रूप) अधिक होता है।

आत्मा स्वय म शत प्रतिशत शुद्ध स्वर्ण है। कर्मों का छाया उस की स्वर्णिमता का ह्रास करते हैं। कर्मों के मुख्यत ८ प्रकारो का उल्लेख प्राप्त होता है जिनकी उत्तर प्रकृतियां भिन्न भिन्न हैं। वे आठ प्रकार हैं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम एव गोत्र कर्म।

१ ज्ञानावरणीय

ज्ञानावरण शब्द से ज्ञानावरणीय की निष्पत्ति हुई है। ज्ञाना वरण याने ज्ञान + आवरण, जो कर्म आत्मा में अवस्थित अनन्त ज्ञान पर आवरण डालता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है। अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म का ही परिणाम है।

ज्ञान पांच प्रकार के माने गये हैं — (१) मतिज्ञान—बुद्धि, इन्द्रिय एवं मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान (२) श्रुत ज्ञान—शास्त्र या शास्त्र से प्राप्त ज्ञान (३) अवधिज्ञान—भूत, भविष्य और वर्तमान में रूपी द्रव्यों में होने वाला परिमितिया का अनान्द्रिय ज्ञान (४) मनः पर्यवज्ञान—प्राणी के मन में उठने वाले विचार तरंगों की स्पष्ट अनुभूति (५) केवल ज्ञान—सम्पूर्ण ज्ञान सभी काल के द्रव्यों एवं उनके गुणों व पर्यायों का दर्शन।

इन पंचज्ञानों के प्रबल प्रवाह को जो कर्म अवरुद्ध करते हैं वे क्रमशः मतिज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मन पर्यवज्ञानावरणीय तथा केवल ज्ञानावरणीय के रूप में व्यक्त किये गये हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म का बंध ज्ञान, ज्ञान के हेतुओं एवं ज्ञान के उपकरणों की अवहेलना करने से होता है। कागज या पुस्तक को फाड़ना, नष्ट करना, ज्ञानी का सम्मान न करना, ज्ञानागार को हानि पहुँचाना, विद्यालय में हड़ताल करवाना या उसमें भाग लेना आदि ज्ञानावरणीय कर्म को आत्मा में अवगाहन प्रदान करते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म को तोड़ने के लिये ज्ञानाराधना एवं प्रचण्ड पुरुषार्थ आवश्यक है।

## २ दर्शनावरणीय

अनन्त दर्शन की विपुलता को विपन्नता का रूप प्रदान करने

वाला कर्म ज्ञानावरणीय है। आत्मा में दिव्यदृष्टि होते हुए भी उसकी दृष्टि सीमित क्यों है? हम चेतन हैं फिर भी निद्रा आने का कारण क्या है? नेत्र रहते हैं किंतु उनमें से ज्योति का अन्तर्ध्यान क्यों हो जाता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है दर्शनावरणीय कर्म। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन पर भी अपना घन प्रभाव करता है। यह उस द्वारपाल के समान है जो द्वार पर तैनात होकर जनता को शासक के दर्शनों से वञ्चित करता है।

दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियां मानी गयी हैं जिनमें ४ बोध सम्बन्धि हैं व ५ निद्रा सम्बन्धि।

बोध सम्बन्धि दर्शनावरणीय कर्म में चक्षुदर्शनावरणीय (चक्षुओं से होने वाले बोध में अवरोध), अचक्षुदर्शनावरणीय (अन्य इन्द्रियों से बोध में अवरोधक), अवधि दर्शनावरणीय (अवधि दर्शन का आच्छादक) केवलदर्शनावरणीय (केवलदर्शन का आच्छादक) का समावेश होता है।

निद्रा के ५ प्रकार माने गये हैं (१) निद्रा (२) निद्रा निद्रा (३) प्रचला (४) प्रचला प्रचला (५) स्त्यानर्द्धि। जो शयनावस्था निमिष में जागृत किया जा सके उसे निद्रा कहते हैं। गहरी युक्त निद्रा या गहन, घोर शयन अवस्था निद्रा निद्रा के अन्तर्गत है। खड़े या बैठे नींद लेना प्रचला है तथा चलते चलते ही निद्रासरिता में स्नान करते रहने को प्रचला प्रचला का रूप दिया गया है। रात्रि को गाढ़ निद्रा में उठकर उसी अवस्था में कोई कार्य कर देना एवं मौन में रहना स्त्यानर्द्धि की पहिचान है।

दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध दर्शन के साधनों एवं दर्शकों की अवहेलना करने से होता है।

३ मोहनीय

मोह के चिकने पदों पर फिसल कर जब आत्मा सांसारिक परिणतियों में परिभ्रमित होती है तो प्रथम मोहनीय कर्म का बहुत गाढ़ बन्ध होता है। वीतराग स्थिति को राग, द्वेष, मोह, माया, ममता की भीषणता में बदल देने वाला मोहनीय कर्म का कार्य है। सम्यग्दर्शन केन्द्रीकरण हटाकर मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) की ओर आत्मा को मोहनीय कर्म प्रवृत्त करता है। सभी कर्मों में यह बलिष्ठ माना गया है। आत्मा को मदान्ध कर इसे नियंत्रित रखने में यह कर्म सरलतापूर्वक सफलता प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि मोहनीय कर्म के दोष स्वाभाविक दिखाई देते हैं। पर हम उन्हें दुराग्रह पूर्वक पकड़े रहते हैं। मोहनीय कर्म का आक्रमण विचार एवं व्यवहार दोनों पर होता है। विचारों पर "दर्शन मोहनीय कर्म" घात डालता है जबकि व्यवहारों को और "चारित्र मोहनीय कर्म" दूषित करता है।

दर्शन मोहनीय के कारण सम्यक्त्व खण्डित होता है सच्चे देवगुरुधर्म पर अश्रद्धा होती है एवं विश्वासों का अंध इधर उधर गड्ढों व गलियों में घूमता फिरता है।

चारित्र मोहनीय क्रोध, मान, माया, लोभ को आत्मा में प्रविष्ट होने का द्वार खोल देता है। यही नहीं हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद भी इसके कारण अपना प्रभाव दिखाते हैं।

४ अंतराय –

निराध निग्र्व जल प्रवाह को जिस प्रकार ह ट य सिमर की दीवाल बाध बनकर रोक देता है उसी प्रकार अनन्त शक्ति के मार्ग म अन्तराय कर्म बाध बनकर खड़ा होजाता है। अन्तराय याने अवरोध। किसी भी कार्यगति को अवरोध बनकर अवरुद्ध कर देना अतराय कर्म का स्वभाव है।

अन्तराय को पाच प्रकारों विभक्त किया गया है (१) दाना तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगा तराय (५) वीर्या तराय।

दानदेने की इच्छा के स सुन्दर व्यवधान उपस्थित कर दान में रुकावट दानान्तराय है। लाभ की स्थिति में भी लाभ की प्राप्ति न होने लाभान्तराय है। भोग्य वस्तु के उपयोग म भोगान्तराय एव उपभोग की वस्तुओं के उपभोग म उपभोगान्तराय बाधा बनता है। शक्ति होते हुए भी कार्य करने में उदासीनता वीर्यान्तराय का लक्षण है।

५ –

जीवन म वेदना का व्यवहार लेकर वेदनीय कर्म कार्यरत होते हैं। सुख और दुख की प्राप्ति इसी कर्म के कारण होता है। आत्मा अव्याबाध सुख की स्वामिनी है लेकिन पौद्गलिक आवरण के कारण जो इष्टयोग म सुख एव इष्ट वियोग में दुःख का संवेदन होता है वह वेदनीयकर्म के कारण ही है।

शाता वेदनीय एवं अशाता वेदनीय इन दो प्रकारों का विभाजन वेदनीय कर्म का किया गया है।

शातावेदनीय के कारण सांसारिक सुख एवं समृद्धि की प्राप्ति होती है। परन्तु अशाता वेदनीय के कारण दुःख ही दुःख दिखाई देता है। विश्व में जो कहीं सम्पन्नता एवं कहीं विपन्नता का विरोधाभास दृष्टित होता है वह शातावेदनीय एवं अशातावेदनीय का ही भेद है।

**६ आयुष्य –**

शरीर में आत्मा के आगमन एवं निर्गमन के मध्य की अवधि आयु कही जाती है या व्यवहारिक भाषा में वर्णित कर तो जन्म और मृत्यु इन दो बिन्दुओं के बीच की दूरी आयु है। आयुष्य कर्म जितनी मात्रा में संचित होता है उतना ही जीवन एवं मन में प्राप्त होता है। आयुष्य कर्म का क्षय ही मृत्यु है। आत्मा का जन्म जरा और मृत्यु के भ्रम में इसी कर्म के कारण घूमना पड़ता है।

**७ नामकर्म –**

चित्रकार की तूलिका से अलग अलग रंगों व आकृतियों के चित्र प्राप्त होते हैं वैसे प्रकार नाम कर्म के कारण भिन्न भिन्न योनियां, रंग, शरीर, इन्द्रियों का निर्माण होता है, व्यक्ति को यश अथवा अपयश प्राप्त होता है, सौभाग्य–दौर्भाग्य के सिरों के मध्य आत्मा झूलता है।

गौरवर्ण कालावर्ण, अच्छा स्वर भद्दा स्वर, सुरूप–कुरूप सहज ये सभी नाम कर्म के परिणाम हैं।

८ गोत्र कर्म :-

उच्च गोत्र नीच गोत्र की प्राप्ति को कारणभूत गोत्र कर्म है इसके कारण वंश, कुल, परिवार एवं गोत्र का निर्धारण होता है गोत्र कर्म ही कभी टुंड्रा के शीत प्रदेश में तो कभी सहारा के रेगिस्तान में फेंकता है और यही कभी अमरिका या भारत जैसे समृद्धशाली राष्ट्रों में भेजता है। गोत्र कर्म के कारण ही कभी महारानी की कुक्ष में तो कभी शुद्र की कुक्ष में स्थान प्राप्त होता है। गोत्र कर्म के कारण आत्मा उच्चता तथा नीचता के हिंडोले खाता रहता है।

जीवन मर्मों की कहानी इन आठ कर्मों के उदय एवं बंध पर ही निर्मित हुई है।



— १४ —

# सृष्टिकार सम्बन्धि कल्पित कल्पना

संसार की चित्र विचित्रता जन गहन विचार विनिमय के पश्चात् भी सुलझ नहीं पाई। कुछ भारतीय दर्शनकारों ने 'ईश्वर' के रूप में सृष्टिकर्ता की कल्पना की, एक सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी व्यक्ति विशेष का प्रावधान किया तथा संसार संचालन का सूत्र उसीके हाथों में थमादिया। उनका विश्वास रहा कि प्राणी कर्म करते हैं किन्तु फल की प्राप्ति ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर है। इस विचार

गीता ने संसार को एक कठपुतली के खेल का रूप प्रदान कर दिया। मदारी जिस प्रकार कठपुतलियों के धागे खींच कर उन्हें क्रियाशील करता है उसी प्रकार ईश्वर भी धागे खींचा करता है। तदनुसार संसार के रंगमंच पर प्राणि अभिनय किया करते हैं। लेकिन इसमें वास्तविकता के धरातल पर कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

जैसे यह ईश्वर कौन है? इसका निवास कहां है? इसका जन्म कब हुआ? यदि ईश्वर ने संसार की सृष्टि की है तो ईश्वर की सृष्टि किसने की? यदि ईश्वर का सृष्टिकर्ता कोई है तो मानना पड़ेगा कि सृष्टि से पहिले भी संसार था? यदि हां, तो जब संसार पहले से ही था तब सृष्टि किस वस्तु की हुई? ईश्वर को ईश्वर पद किसने दिया? सृष्टि का निर्माण होने से पूर्व तो संसार था ही नहीं फिर ईश्वर ने कहां बैठकर सभी कठपुतलियों को घड़ा? ईश्वर का शरीर कैसा है? यदि वह निःशरीर है तो बिना शरीर व इन्द्रियों के वह सब कार्य कैसे सम्पन्न कर लेता है? जिन पर मौन रहने के सिवाय कोई विकल्प शेष नहीं रहता। मात्र कठपुतलियों का खेल कह देने से वर्कें जिज्ञासा अथवा बुद्धि क्षुधा शान्त नहीं होसकता।

जैन दर्शन का ईश्वर में विश्वास है किंतु ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में मानने को वह कतई तय्यार नहीं है। उसका कथन है कि ईश्वर एक पद है जिसको हर इंसान प्राप्त कर सकता है। उसकी मान्यता है कि हर आत्मा में परमात्मा बन सकने की शक्ति निहित है, परमात्मा पद के द्वारा सभी के लिये

मुक्त है। उनका विश्वास है कि ईश्वर पर या बिना उसकी शक्ति के साथ संयोजन नहीं किया जा सकता। ईश्वर पर स्थापित ईश्वर के गाड़े से लेकर देवलोक के सारा सब का अधिकार है कि यह अनादि आत्मा के स्वाभाविक विकास के द्वारा ईश्वर पद प्राप्त होता। ईश्वर का सृष्टिकर्ता के रूप में खण्डन करने का प्रमुख विषय जैन क्षेत्रों में इस ओर बड़ी का है कि जैन धर्म को कुछ लोग यह दृष्टियों से देखने लगे।

ईश्वर वाद का संसार का कर्ता मानने वालों के अनुसार जैन दर्शन ने "कर्मवाद" का प्रभुत्व स्थापित कर संसार संचालन का एक वैज्ञानिक पद्धति का प्रदर्शन किया। इसके अनुसार आत्मा पर कर्मों का बन्धन होता है तथा उनका उदय होने पर कर्मों का भोग भी उन्हें ही करना पड़ता है। आत्मा चेतन है और कर्म जड़। कर्मानुसार आत्मा जड़ पदार्थों से सम्बन्धित होकर संसार में घूमती है। कर्मों के बन्ध तथा क्षय की क्रियायें स्वचालित होती रहती हैं जिसके लिये "ईश्वर" जैसे किसी विशेष सहायक की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब भी आत्मा से कर्मों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम हो जाता है आत्मा अपनी पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर स्वयं परमात्मपद प्राप्त करने हेतु ऊर्ध्वगमन करता है तथा सिद्धशिला पर अपनी स्थिति बना लेता है। यही आत्मा का मोक्ष है और इसी प्रकार संसार का संचालन होता रहता है।

जैनधर्म ईश्वर को एक पवित्र एवं परमशुद्ध रूप में देखता है। वह उसे सांसारिक कीचड़ में घसीटना नहीं चाहता।

ईश्वर के हाथ में सब कुछ दे देने से ही सभी प्रश्न हल नहीं हो जाते। यदि ईश्वर ही सर्वत्र संचालन का सूत्रधार है तो फिर वह अपने प्रभाव से सभी को सुखी क्यों नहीं कर डालता? संसार में जो दुराचार, अनाचार, भूख, कत्ल आदि चलते रहते हैं क्या इन सभी में ईश्वर की भागीदारी रहती है? संसार का एक पत्ता भी तो ईश्वर के बिना कम्पित नहीं हो सकता फिर यह सब क्यों होता है? और होता है तो वह रोकता क्यों नहीं है? क्या वह नादान है, अबोध है, मूक है सो चुपचाप तमाशा देखता रहता है? प्राणियों के जीवन से मजाक कर उनके उत्पीड़न से आनन्द लेनेवाला क्या ईश्वरपद का अधिकारी हो सकता है।

सत्य तो यह है कि संसार केवल आत्माराम और कर्मचंद के समझौते का परिणाम है। कोई ईश्वर जैसा कोई व्यक्ति नहीं है। धर्म केवल पद है जिसकी प्राप्ति के लिये प्रत्येक भव्य आत्मा पुरुषार्थ कर सकता है।



— १५ —

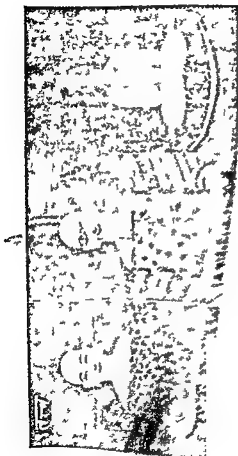
# नवतत्व

जीव और अजीव इन दो तत्व स्तम्भों पर सम्पूर्ण संसार सदन का निर्माण हुआ है। आत्मा (जीव) स्वयं परमात्मा है लेकिन मध्य में विजातीय कर्म अपनी कील ठोके हुए हैं। आत्मा अपनी साधारण अवस्था से विकसित होकर शुद्धिकरण करते हुए सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचती है। इस अग्रिम अभियान तथा सम्पारिक अवस्था में उसका सम्बन्ध ९ प्रकार के पदार्थों से होता है जिन्हे

और दर्शन नवतत्व के रूप में उद्घोषित करता है।

नवतत्व के परिचय के लिये निम्न प्रयोग प्रयुक्त किया जाता है।

किसी नगर की बाह्य सीमा से सटा हुआ एक तालाब है जिसमें प्राकृतिक स्रोतों से पानी आता है एवं नगर की गन्दी गटरों का मैला भी वहीं आकर एकत्र होता है। स्वच्छ और गन्दा दोनों पानी अन्दर ही अन्दर सम्मीश्रित हो एकत्र होते रहे हैं। थोड़े समय उपरांत तालाब की दुर्गंध वायुमण्डल में व्याप्त होने लगी। समीपवर्ती बस्ती के नागरिकों ने व्यथित हो एक प्रार्थना पत्र नगर पालिका को प्रस्तुत कर आवेदन किया कि उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है अतः तुरंत सफाई करवाई जाय। नगर पालिकाध्यक्ष ने प्रार्थना पत्र जन स्वास्थ्य अधिकारी की ओर भेजकर विवरण मांगा। अधिकारीगण निर्दिष्ट स्थल पर गये एवं निरीक्षण कर अध्यक्ष को तीन बातों सहित विवरण दिया। (१) दुर्गंध तालाब में है (२) दुर्गंध को दूर करने के लिये पहिले बाहर से पानी व गन्दगी लाने वाले द्वारों को स्लूसद्वारा बन्द किया जाय (३) एकत्र गन्दगी पोटेशियम परमगनेट (लाल दवाई) के द्वारा दूर की जाय। अध्यक्ष ने सचिव को और फाइल भिजवाते हुए सारे प्रकरण को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। सचिव ने प्रकरण के निम्न विचार बिन्दु निर्धारित कर विवरण तय्यार किया (१) तालाब का पानी (२) तालाब के समीप बस्ती (३) अच्छे पानी का आगमन (४) नगर की गन्दगी का आगमन (५) दोनों का सम्मीश्रण (६) दोनों के आगमन के द्वार



(७) द्वारों को अवरुद्ध करने हेतु ढक्कन (८) लाल दवाई (९) शुद्ध जल।

अब हम तालाब के रूप में आत्मा की कल्पना करें। तालाब का पानी याने एकेन्द्रिय जीव, तालाब के समीप बस्ती याने अजीव (जड़), शुद्ध पानी का आगमन याने आत्मा में अच्छे कर्मों का आगमन 'पुण्य', गंदे पानी का आगमन याने बुरे कर्मों का आगमन 'पाप', दोनों का सम्मिश्रण याने बन्ध। आत्मा में पाप और पुण्य के आने के द्वारों का नाम निर्दिष्ट किया गया है आश्रव, आश्रव को अवरुद्ध करने के लिये ढक्कन याने संवर, लाल दवाई का प्रयोग याने कर्मों का समाप्त करने की क्रिया-निर्जरा, शुद्ध जल की प्राप्ति याने आत्मा की शुद्धावस्था मोक्ष। इस प्रकार जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष ये ९ नाम नव तत्व के रूप में आलेखित किये जाते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| (१) पानी | — | जीव |
| (२) बस्ती | — | अजीव |
| (३) अच्छा पानी | — | पुण्य |
| (४) गन्दा पानी | — | पाप |
| (५) सम्मीश्रण | — | बंध |
| (६) आगमन द्वार | — | आश्रव |
| (७) अवरोधक (ढक्कन) | — | संवर |
| (८) लाल दवा (पोटाशियम परमेगनेट) | | निर्जरा |
| (९) शुद्ध पानी | — | मोक्ष |

इन तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है —

(१) जीव चेतना लक्षण वाला अपने मूल स्वरूप में शुद्ध किन्तु वैभाविक अवस्था में सांसारिक परिभ्रमणशील।

(२) अजीव अचेतन, निर्जीव जिसमें किसी प्रकार की अनुभूति या संवेदना नहीं होती, वह अजीव है। पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म एवं काल इसके उदाहरण हैं।

(३) पुण्य शुभ कर्म जिनका आगमन आत्मा में होता है एवं जिनके उदय से साधन-सामग्री सम्पन्नता व सुख की उपलब्धि होती है।

(४) पाप अशुभ कर्म जिनका आगमन आत्मा में होता है एवं जिनके उदय से विपन्नता-नाना-प्रकार के दुःख का सामना करना पड़ता है।

(५) बंध- कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्धित होने की प्रक्रिया का नाम बंध है। जिस प्रकार दूध में पानी व्याप्त हो जाता है आत्मा में भी कर्मों का [illegible] हो जाता है।

(६) आस्रव जिन कारणों अथवा हेतुओं से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है उन्हें आस्रव कहते हैं।

(७) संवर कर्म के हेतुओं (आस्रव) का "संवर" अवरोध करता है। संवर भाव उत्पन्न होने पर कर्मों का बंध रुक जाता है।

(८) निर्जरा निजरा के कारण आत्मा में अवशिष्ट कर्मों का क्षय होता है। तप, व्रत आदि निर्जरा के अन्तर्गत आते हैं।

(९) मोक्ष आत्मा का परमात्मस्वरूप में परिमार्जन। इस अवस्था में आत्मा कर्मों से बिलकुल निर्युक्त होती है। वह अपनी शुद्धावस्था को प्राप्त कर निरंजन निराकार बन सिद्धशिला पर प्रतिष्ठित हो जाती है।

टिप्पणी

दिगम्बर मान्यता के अनुसार तत्त्वा के सात प्रकार सन्दर्भित किये गये हैं– जीव, अजीव, बंध, आश्रव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष। दिगम्बर शास्त्रकारों ने पुण्य व पाप का बंध के अन्तर्गत समावेश किया है।

— १६ —

# पंच महाव्रत

हिंसा, अशान्ति एवं अधर्म के उस वातावरण में भगवान महावीर ने आविर्भूत होकर पंच महाव्रतों की गगन गर्जना के साथ उपदेशामृत की वृष्टि की। फलतः दया, करुणा और सद्भाव की हरियाली मानव मस्तिष्कों के मैदानों में फैलती हुई। यही पांच महाव्रत आचार संहिता के रूप में मानव समाज के सम्मुख प्रस्तुत हुए जिनमें प्राणी मात्र के सह अस्तित्व एवं

ाहा है। हृदय को निकाल कर कोई जीवित नहीं रह सकता। ना में मृदुता विवेक एवं लोक प्रियता होना चाहिये इसी से नता का संवरण होता है यही कारण है कि जैन संस्कृति सत्य न को प्रतिष्ठित रखने का उपदेश प्रदान करता है।

तीसरा महाव्रत है अस्तेय–याने चोरी का निषेध। "अपना तु अपना तथ दूसरों का वस्तु दूसरों का" इसका निर्भिकता पूर्वक परिपालन अस्तेय है–ममता और मोह व्यक्ति का नियत में परिवर्तन कर देते हैं किन्तु नियत को नियति के नियमों के अनुरूप रखना ही अस्तेय का आदेश है। अपनी सम्पत्ति की यदि हम पूरा रक्षा करना चाहते हैं तो अनिवार्यत हम दूसरा की सम्पत्ति का भी संरक्षण करना होगा किसी वस्तु को बिना इच्छा के स्पर्श भी न करना यह इस व्रत का मूलमंत्र है।

सभी व्रतों में सर्वोच्च एवं उत्तम व्रत के रूप में ब्रह्मचर्य को अग्रगण्य स्थान दिया गया है। ब्रह्मचर्य के परिपालन द्वारा व्यक्ति अपनी शक्तियों को सृजनात्मक क्षेत्र में उपयोग कर सकता है। जैन संस्कृति में साधुओं के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य का निर्धारण है किन्तु श्रावकों का सीमा स्वस्त्रीगमन के बाद प्रारंभ की गई है। विकारों की आग जिज्ञासा को भस्म कर देता है किसी भी रूप में किसी भी विपरीत शीलशील की ओर विकृत दृष्टि से न देखना ही ब्रह्मचर्य का पालन है।

अपरिग्रह एक पवित्र समझौता है जिसका पालन हर व्यक्ति को प्राणा हित II करना चाहिये। संग्रहखोरी, अधिक संचय आदि

दोषों से दूर कर अपनी इच्छाओं का परिमाण करना अपरिग्रह की शुद्ध भावना है। आकांक्षाएं आकाश की तरह अनन्त हैं इनकी पूर्ति कभी नहीं होती। तृष्णा का पेट सुरसा की तरह अगम है। तृष्णाओं की तृप्ति किसी भी स्थिति में संभव नहीं। इच्छाएं दावाग्नि की तरह फैलती हैं। मानव समाज में समानवाद की भावनाओं को फलवती करने हेतु जैनधर्म का अपरिग्रहवाद ग्रहित किया जाय। अपरिग्रहवाद उदार है वह व्यक्ति को स्वयं भावना से त्याग करने हेतु प्रेरित करता है। अपरिग्रहवाद में दबाव, बलप्रयोग अथवा हिंसा को स्थान नहीं है इसकी नींव स्वयं नियंत्रण की भावना पर खड़ा हुआ है।



— १० —

# मुक्ति का राजमार्ग

जैन धर्म का राजमार्ग है रत्नत्रय। रत्नत्रयी याने आचार, विचार एवं व्यवहार की शुद्धि का त्रिवेणी संगम। रत्नत्रयी का दूसरा नाम है मुक्ति का पथ, जिस पथ पर अग्रसर होने से मुक्ति का महत्वाकांक्षी मजबूत बनता है एवं जिसके चरम बिन्दु पर मुक्ति रूपी विजय स्तम्भ है।

रत्नत्रयी धरातल के तीन केन्द्र हैं- सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र। सम्यग याने सही ज्ञान, सही दर्शन एवं सही [illegible]।

सही ज्ञान से तात्पर्य है तत्त्व प्ररूपक ज्ञान। आत्मा एवं कर्म का सम्बन्ध, जीवन का परमोच्च लक्ष्य, परमोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु आदि का सर्वज्ञ सम्मत परिचय। शास्त्रकारों ने उद्धरण प्रदान किया है 'ज्ञानस्य फलं विरति' ज्ञान वही जिसका फल विरति के रूप में प्रकट हो। विरति याने पापों का प्रतिज्ञा-पूर्वक परित्याग। मात्र ज्ञान तो अस्थिपिंजर की तरह है-तो सही ज्ञान उसे ही कहा जायगा जो मुक्ति के मार्ग की ओर प्रेरित कर सके। जिस ज्ञान का परिणाम सांसारिक वासनाओं अथवा विषय-विकारों का व्यवहार हो वह जैन संस्कृति की भाषा में सही ज्ञान के रूप में सम्बोधित नहीं किया जा सकता है। आत्मा में अनास्था अज्ञान है जबकि आत्मा में आस्था ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान अनास्था को प्रश्रय नहीं देता है एवं आस्था के दुर्ग का निर्माण करता है।

मुक्ति संस्कृति के भव्य राजप्रासाद का दूसरा और सबसे महत्व पूर्ण आधार स्तंभ है सम्यग्दर्शन। सही दर्शन याने सही श्रद्धा, निर्मल तत्त्वदर्शन। सम्यग्दर्शन व्यक्तिवाद का आग्रह नहीं करता, साम्प्रदायवाद को सबल नहीं बनाता, दुराग्रह को प्रश्रय नहीं देता है। इसका कथन है कि जो सच्चे देव हैं, सच्चे गुरु हैं, सच्चा धर्म है उसी पर विश्वास का केन्द्रीकरण करो। सच्चे देव याने सही मार्ग के देव जो सांसारिक बंधनों से दूर होकर स्वयं मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं। सच्चे देव वही जिनने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य की परिप्राप्ति करली है जो वीतराग, मुक्त या अरिहन्त के रूप में परिमार्जित हो चुके हैं। सम्यग्दर्शन इधर-उधर, ऊपर नीचे के देवी देवताओं की उपासना का निषेध करता है। जैन दर्शन का

प्रबल प्रतिपादन है कि यदि अरिहन्त बनना है तो अरिहन्त की आराधना ही यह संभव बना सकती है। सच्चे गुरु का अर्थ है वह गुरु जो सही देव का दर्शन करवादे, जीवन को सही मार्ग की ओर मोड़ दे या जो सत्य और असत्य का विवेकपूर्ण विश्लेषण कर सके। जैन संस्कृति उन गुरुओं को सच्चा गुरु मानने को तय्यार नहीं जो सांसारिक कीचड़ में स्वयं भी फंसे हुए हैं और दूसरों को भी उसी में खींच लेना चाहते हैं। होम, यज्ञ करने वाले मरनल पर सन्तानोत्पत्ति करवाने वाले, सट्टे के अंक बतलाने वाले, रुपये एकत्र करने वाले, पलिया रखने वाले या राम-भाजी-चाड़ी सिगरेट-भंग आदि का उपयोग करने वाले जैन दृष्टिकोण के अनुसार कभी गुरु नहीं माने जा सकते। सच्चा गुरु त्यागी, तपस्वी सही दृष्टि वाला एवं स्व-पर के कल्याण की भावना से रमा होना चाहिये। सच्चे धर्म पर श्रद्धा तीसरी आवश्यकता है सम्यग्दर्शन की। सच्चे धर्म का सबेत उस धर्म से है जो राग, पाखण्ड एवं निरा क्रियाकाण्ड को प्रश्रय नहीं देता हो जिसका अन्तिम लक्ष्य शुद्ध हो एवं साध्य प्राप्ति के साधनों की पवित्रता पर भी जो जोर देता हो, जो अविसंवादी तथा त्रिकालाबाध्य हो। धर्म की परिभाषा विद्वानों ने इस प्रकार की है-जो मोक्ष एवं कल्याण मार्ग को पुष्ट करता हो वही धर्म है सही धर्म आराधक को उसकी उत्कृष्ट स्थिति तक पहुँचाने में समर्थ होता है। सही देव, सही गुरु एवं सही धर्म की मान्यता ही सम्यग्दर्शन का मूल प्राण है।

सम्यक् चारित्र का रहस्य स्पष्ट ही है आचार एवं क्रियाएं भी शुद्ध आशय से युक्त होना चाहिये। शुद्ध आशय यानि त्याग, तप,

धर्म प्रवृत्ति सभी की पृष्ठभूमि में आत्म विकास का सार ही ओतप्रोत दर्शित होना चाहिये । आत्मविकास की उच्च भावना के साथ ही प्रवृत्ति मार्ग पर असर होना चाहिये ।

मतीपि उमास्वातिजी के अनुसार 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि-मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शन ज्ञान एव चारित्र ही मोक्ष मार्ग है ।

